नाट्य युग

कुँवरजी अग्रवाल

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

नाट्ययुग

कुँवरजी अग्रवाल

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

NATYAYUG

[Age of Theatre]

by

Kunwarji Agrawal

1985

सीके. १५/२९ भारतेन्दु मार्ग
वाराणसी–२११००१

प्रथम संस्करण : १९८५ ई०

मूल्य : आठ रुपये

प्रकाशक :

विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी

मुद्रक :

विद्या प्रिंटिंग प्रेस, ब्रह्माघाट, वाराणसी
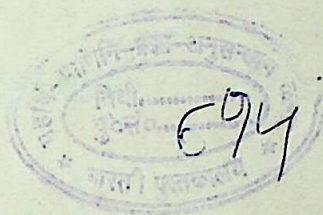
आधुनिक हिंदी नाट्य के प्रवर्तक

भारतेंदु हरिश्चंद्र

की जीवन-पूर्ति-शती के अवसर पर

उनकी परंपरा को विकसित करने वाले

नाट्यकर्मियों, नाट्यलेखकों और नाट्यचिंतकों को

सादर समर्पित

कुँवरजी अग्रवाल

महर्षि पंचमी

२०४२ वि०

नाट्ययुग

अनुक्रम

नाट्ययुग : भारतेंदुयुग

हिंदीसाहित्य के इतिहास का भारतेंदुयुग वस्तुतः नाट्ययुग ही है। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में पूरब में कलकत्ता, पच्छिम में बंबई और दक्खिन में हैदराबाद तक हिंदी को जन जन तक पहुँचाने में नाट्य ने भी महत्वपूर्ण योग दिया। इस व्यापक भौगोलिक क्षेत्र में उस समय हिंदी नाट्य प्रदर्शनों की धूम मच गई जिसमें अहिंदी भाषियों ने खूब योग दिया।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में हिंदी के साहित्यिक लेखन की केंद्रीय विधा नाटक बन गई थी। इस युग के लगभग सभी महत्वपूर्ण लेखकों ने नाटक लिखे। बल्कि जिसमें लिखने की कुछ भी प्रतिभा थी उसने मुख्यतः नाटक लिखने की कोशिश की। भारतेंदु के अतिरिक्त लाला श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, अंबिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, कार्तिकप्रसाद खत्री, रामकृष्ण वर्मा, केशवराम भट्ट, दामोदर शास्त्री सप्रे, तोताराम, राधाकृष्णदास, खड्गबहादुर मल्ल, गौरीदत्त, देवकीनंदन तिवारी, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी, शालिग्राम वैश्य, ज्वालादत्त मिश्र, लाला सीताराम, राय देवीप्रसाद पूर्ण आदि सब ने नाटक रचना अवश्य की। इनके अलावा दर्जनों अनाम नाटककार भी इस युग में हुए। नाटकों में भारतेंदुयुग सर्वाधिक प्रतिबिंबित हुआ है। इस युग के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों की अनुक्रिया-प्रतिक्रिया नाटककारों ने जितनी सटीक पकड़ी है उतनी शायद किसी अन्य विधा के रचनाकारों ने नहीं।

दरअसल भारतेंदुयुग का साहित्यकार न तो व्यावसायिक लेखक था न ही गजदंती मीनार का आत्मकेंद्रित कलाकार। वह सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना से भरपूर, युगपरिवर्तनों को उच्चतर दिशाओं में गतिशील करनेवाला समाज का सबसे सक्रिय सदस्य था। इसीलिये वह लिखने के साथ ही प्रकाशन की भी जहमत उठाता था। प्रेरक रचनाएँ करता था और उन्हें जन जन

तक पहुँचाने के लिये पत्र-पत्रिकाएँ भी निकालता था। जरूरत पड़ने पर स्वयं उन्हें बेचता भी था। यही वजह है कि जब उसने जनता को आकृष्ट करने की नये रंगमंच की मोहक शक्ति देखी; जब उसने इस माध्यम द्वारा करोड़ों निरक्षर लोगों तक अपना संदेश पहुँचाने की अपार संभावनाएँ देखीं; जब उसे लगा कि इस माध्यम से वह राष्ट्र जीवन में मनचाही तब्दीली ला सकता है तो न सिर्फ धड़ाधड़ वह नाटक लिखने लगा, बल्कि सामाजिक अप्रतिष्ठा और घरवालों के कड़े प्रतिरोध की भी परवाह न करके उसने खुद मूंछ मुड़ाकर, चेहरे पर रंग पोतकर नाटक प्रस्तुत करना भी शुरू कर दिया। नाट्यलेखन और प्रस्तुति के प्रति ऐसे मिशनरी उत्साह और साहस का नाट्ययुग हिंदी को दुबारा नसीब नहीं हुआ।

इसी युग में नाट्य को तिजारती सामान बनाकर नये तमाशे के प्रति जनता की व्यापक रुझान से नफा कमाने की गरज से व्यवसायियों का भी एक दल सामने आया जो पारसी रंगमंच के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इसमें नाटककारों और अभिनेताओं आदि को बड़ी लोकप्रियता और पैसा भी खूब मिलता था। लेकिन इसकी कीमत वे जनता को सामयिक सुलगते सवालों से बेखबर करके भोंडे हास्य और नाचरंग की रोमानी दुनिया में पहुँचाकर अदा करते थे। बहैसियत संपादक पत्रकार, आलोचक और नाट्यकर्मी भारतेंदुयुग के लेखक इनसे जमकर लोहा लेने की भी कोशिश कर रहे थे।

इस तरह यह नाट्ययुग गहरी सामाजिक चेतना और प्रतिबद्धता का युग (भारतेंदुयुग) था। इस युग में एक सार्थक और सोद्देश्य हिंदी नाट्य परंपरा को स्थापित करने की कोशिश की गई थी।

समसामयिक जीवन की समस्याओं में बेहद उलझे हुए इस युग के साहित्यकार के पास कलात्मक बारीकियों में जाने का वक्त और धैर्य नहीं था। वे बस तात्कालिक प्रभाव के साहित्य की सृष्टि कर रहे थे। कालजयी रचनाओं के लिये जमीन तैयार कर रहे थे और खुद खाद बन रहे थे। आधुनिक हिंदी-

साहित्य का विशाल वटवृक्ष इसीमें उगा बढ़ा है। अतः आधुनिक हिंदी नाटक

के विकास को ठीक से पहचानने के लिये भारतेंदुयुग के रचना–परिवेश और उसकी प्रक्रिया से परिचय जरूरी है।

इस नाट्ययुग के प्रवर्तक भारतेंदु का व्यक्तित्व अपने युग के हिंदी साहित्यकारों में सर्वाधिक प्रतिभाशाली, तेजस्वी, अग्रगामी, चिंतक और कर्मठ था। चौंतीस वर्ष के अपने जीवनकाल में भारतेंदु ने साहित्य की प्रभूत सर्जना के साथ ही हिंदी भाषा साहित्य की पूर्ण प्रतिष्ठा के लिये दूसरी तरह के भी बहुविध कार्य किए। भारतेंदु की विलक्षण सर्जनात्मक प्रतिभा का ही यह नतीजा हैं कि उनके नाटकों में उस युग की संपूर्ण हिंदी नाट्यरचना की चरम उपलब्धियाँ प्रतिबिंबित होती हैं। भारतेंदु अकेले अपने युग के समस्त हिंदी नाटककारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इतना ही नहीं, उस युग की नाटक रचना में यदि कुछ भी कालजयी तत्व हैं तो वह सर्वाधिक भारतेंदु के नाटकों में ही उपलब्ध होते हैं। सच पूछिए तो यह सारा नाट्ययुग अकेले भारतेंदु के व्यक्तित्व में समाहित है।

आज (१९८५ ई०) जब भारतेंदु की जीवनपूर्ति के बाद सौ साल गुजर गए और हिंदी नाट्य लंबे सफर की कई कई मंजिलों से गुजरता हुआ एक ऐसे पड़ाव पर ठहर गया है जहाँ से अब उसे अगली यात्रा बिल्कुल नये सिरे से शुरू करनी है, भारतेंदु की नाट्यसृष्टि पर एक नजर डालकर शायद हम कुछ और पाथेय वसूल लें।
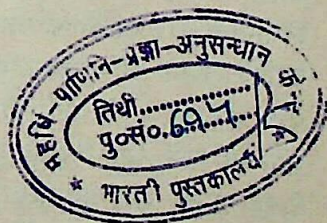
नाट्ययुग का शुभारंभ

जानकीमंगल की नाट्यप्रस्तुति

हिंदी के नाट्य-इतिहास का आधुनिक काल सन् १८६८ ई० में ३ अप्रैल को विधिवत् आरंभ हुआ जब वाराणसी के सैनिक छावनी क्षेत्र (कैंटोन्मेंट) स्थित बंगला नंबर २५ (बनारस थियेटर, थियेटर रॉयल, असेंबली रूम्स, नाचघर) में पंडित शीतलाप्रसाद त्रिपाठी लिखित 'जानकीमंगल' की नाट्य-प्रस्तुति हुई।

ब्रितानी उपनिवेशवादियों के भारत-आगमन के साथ ही यहाँ आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में जो अनुक्रिया प्रतिक्रिया हुई उससे नाट्य भी अछूता न रहा। बल्कि नाट्य के क्षेत्र में तो ब्रितानी माडल और प्रतिमान कुछ ज्यादा ही निर्णायक सिद्ध हुए और एक प्रकार से संपूर्ण पारंपरिक नाट्य को नकारता एक नया नाट्यांदोलन भारत में शुरू हो गया। नये नाट्यांदोलन की यह लहर बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र से होती हुई हिंदी के हृदयस्थल वाराणसी में उन्नीसवीं शती के छठे सातवें दशक तक पहुँच गई।

उन दिनों बनारस हिंदी माध्यम से बौद्धिक और राष्ट्रीय चेतना का केंद्र बन रहा था। यहाँ की परंपराशीलता आधुनिकता के तेज दबाव से बचने की कोशिश में कहीं बीच का रास्ता ढूंढ़ रही थी। ऐसे परिवेश में यहाँ के बुद्धि-विलासियों और सांस्कृतिक उन्नायकों का ध्यान इस नये नाट्यांदोलन की संभावनाओं पर भी केंद्रित हुआ और वाराणसी में रंगमंच की स्थापना के उपाय सोचे जाने लगे। ऐसे लोगों की अगुआई की तत्कालीन काशी के महाराजा ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह ने। वे तुलसीदास द्वारा प्रवर्तित रामलीला का रामनगर में बड़े पैमाने पर पुनःसंस्कार करके ही संतुष्ट नहीं हुए। नाट्यकला के उद्धार की सदिच्छा से उन्होंने उन्नीसवीं शती के छठे दशक के अंत के लगभग अपने दरबारी कवि गणेश को हिंदी में इस दिशा में कदम उठाने की आज्ञा दी :
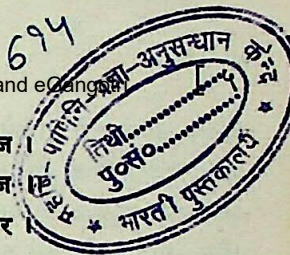
भूपमौलि श्री ईश्वरीनारायण महाराज।
लखि मेरे गुन रीझिकैं आयसु दियो दराज ॥
गएबीत अनगन बरस नाटक विधि ब्योहार।
भए गुप्त तेहि प्रगटकरि दरसावो सुखसार ॥

गणेश रीतिकालीन परंपरा के कवि थे और नाटक लिखने का उन्हें कोई अनुभव न था। अतः एक ओर तो उन्होंने पारंपरिक पद्यबद्ध नाटकों की मध्य-कालीन हिंदी कृतियों पर नजर दौड़ाई, दूसरी ओर दशरूपक और साहित्यदर्पण के आधार पर रीतिकालीन मिजाज के अनुसार ही हिंदी में नाटक का लक्षण-ग्रंथ लिखकर तैयार किया और उसीके उदाहरण के रूप में 'प्रद्युम्न विजय' नाम से एक नाटक भी लिखा। यह नाटक रंग-संकेतादि सहित शुरू से अंत तक विविध छंदों में पद्यबद्ध है। इसमें पाँचों संधियाँ और उसके चौंसठ अंग भी हैं तथा लोक कथाओं वाली हंस हंसिनियों की कथानक रूढ़ि भी।

जाहिर है इससे नाट्य की पुनर्स्थापना की महाराज की इच्छा पूरी नहीं हो सकती थी। वह तो क्लासिकी संस्कृत नाटक के ढंग की कोई ऐसी हिंदी नाट्यप्रस्तुति की परंपरा स्थापित करना चाहते थे जो सामान्य जन को शिष्ट मनोरंजन के साथ चरित्रनिर्माण की प्रेरणा भी दे सके और साथ ही नये ढंग की अंग्रेजी नाट्यप्रस्तुति से कहीं टक्कर भी ले सके। इस तरह का नाट्या-लेख तैयार करने की जिम्मेदारी उन्होंने सौंपी अपने सभा-पंडित और तत्कालीन राजकीय संस्कृत कॉलेज (अब संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय) के विद्वान् अध्यापक शीतलाप्रसाद त्रिपाठी को। त्रिपाठीजी ने न तो संस्कृत के किसी नाटक का हिंदी रूपांतर किया, नहीं कोई काल्पनिक मौलिक नाटक लिखा। उन्होंने तुलसी की पारंपरिक रामलीला के धनुर्यज्ञ प्रसंग को आधार बनाकर नाटक लिखने का निर्णय किया।

लेकिन अब प्रश्न था इस नाट्यालेख का 'माडल' क्या हो ! संस्कृत के नाटक सामने थे और उसके ऊपरी ढाँचे से एक काम की चीज उन्होंने उठाई— प्रस्तावना। नाट्यप्रयोग को दर्शकों से जोड़नेवाली यह युक्ति संस्कृत नाट्य की एक जबर्दस्त रूढ़ि है। लेकिन इसका भारतेंदुयुग के कुछ नाटककारों ने बड़ा

नाचते-गाते और शौकिया छोटे-मोटे नाटक भी कर लेते । इसीलिये इस इमारत का नाम रखा गया 'असेंबली रूम्स ऐंड थियेटर'। लेकिन साधारण जनता ने इसका टकसाली नामकरण किया नाचघर। जानकीमंगल की प्रस्तुति के बाद भारतेंदु ने इसे बनारस की नाट्यक्रियाओं के केंद्र के रूप में देखा और अपनी ओर से इसका नामकरण किया 'बनारस थियेटर'। लेकिन पंडित शीतलाप्रसाद ने इसके सरकारी संबंधों और अपनी राजभक्ति के कारण इसे थियेटर रॉयल कहा। महाराज बनारस ने अंग्रेज अधिकारियों से राय ली और फैसला किया 'जानकीमंगल' का अभिनय यहीं होगा। तारीख तय की गई तीन अप्रैल सन् अठारह सौ अड़सठ ईस्वी।

उस दिन बनारसियों के ऊपरी तबके में बड़ी गहमागहमी थी। बड़े-बड़े रईस, बुद्धिविलासी, कुछ महत्वपूर्ण महिलाएँ, देशी और विलायती हाकिम, सैनिक अधिकारी, पहुँचवाले पंडित-ब्राह्मण, बड़े व्यापारी—सबके बग्घी, इक्के, घोड़े-हाथी, तामझाम कैंटोन्मेंट के असेंबली रूम्स की ओर मुखातिब थे। सब महाराज ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह द्वारा आयोजित नया तमाशा 'थियेटर' देखने को उतावले।

लेकिन वहाँ जुटी मजलिस में तब खलबली मच गई जब यह मालूम हुआ कि लक्ष्मण बननेवाला लड़का बीमार पड़ गया। अब नाटक किसी दूसरे दिन के लिये स्थगित कर दिये जाने के सिवा कोई चारा नहीं। रंग में भंग हो गया। तभी वहाँ अठारह साला हरिश्चंद्र आ पहुँचे। उन्हें नाटक का स्थगित किया जाना पसंद नहीं आया और बड़े उत्साह, साहस और आत्मविश्वास के साथ उन्होंने स्वयं लक्ष्मण की भूमिका में उतरने की पेशकश की—'मैं लक्ष्मण बनूंगा। पोथी मुझे दीजिए। पाठ देखूं।' इस पर महाराज ईश्वरीप्रसादनारायण ने कहा, 'इस समय याद होना कठिन है।' हरिश्चंद्र ने कहा, 'गुस्ताखी माफ हो। मैं एक पाठ क्या संपूर्ण जानकीमंगल स्मरण कर लूंगा। एक बार देखना चाहिए।' महाराज ने पुस्तक दी और बाबू साहब ने घंटे भर के भीतर महाराज के हाथ में वह पुस्तक देकर ज्यों का त्यों अक्षर-अक्षर जानकीमंगल सुना दिया। तब महाराज बहुत प्रसन्न हुए और बाबू हरिश्चद्र लक्ष्मण बने और नाटक खेला गया।

प्रेक्षक के रूप में समवेत सांस्कृतिक नेतृत्व करनेवाले काशी के अत्यंत विशिष्ट और प्रभावशाली नागरिकों ने सूत्रधार के मुख से नाट्यकला के नवीन अवतार की स्पष्ट घोषणा सुनी ।

दूसरे दिन इस नाट्यप्रस्तुति की रिपोर्टिंग अंग्रेजो में तैयार करते हुए लिखा गया :

'बनारस ४ अप्रैल--पिछली रात बनारस के हिज हाइनेस महाराजा की आज्ञा से 'जानकीमंगल' नामक हिंदी नाटक असेंबली रूम्स में अभिनीत किया गया । हमारे प्रबुद्ध महाराजा, जो सामान्यतया उन सभी कार्यों में रुचि लेते हैं जिनका संबंध अपने देशवासियों की उन्नति से है, इस अवसर पर उपस्थित थे । उनके साथ कुंवरसाहब और महाराजा के पार्षद भी थे । नाट्यप्रस्तुति देखने के लिये प्रमुख योरोपीय और देशी नागरिक आमंत्रित थे । कुछ महिलाएँ, अनेक सैनिक, नागरिक अधिकारी तथा नगर के धनाढ्य भी मौजूद थे । इस कार्यक्रम के साथ एक देशी वाद्यवृन्द भी था जो नाटक के अंतरालों में संगीत की धुन छेड़ता था ।

'जैसा संस्कृत नाटकों में प्रायः होता है, सबसे पहले सूत्रधार ने प्रवेश किया और संस्कृत में आशीर्वचन के श्लोक कहे । उसके बाद एक अभिनेत्री आई जिसने सूत्रधार से इस विषय पर संक्षिप्त वार्तालाप किया कि दर्शकों को प्रसन्न कैसे किया जाए । यहाँ मैं आपको बता दूँ, संस्कृत नाटक ऐसे ही शुरू होते हैं । आरंभ में हमेशा सूत्रधार किसी अन्य नाट्यकर्मी से थोड़ी बातचीत करता है जिससे नाटक का विषय सामने आता हैं । अभी वार्तालाप चल ही रहा था कि दृश्य के पीछे से कुछ शोर-सा सुनाई पड़ा, और तब सूत्रधार ने कहा राम वाटिका में आ गए हैं इसीसे यह शोर उठा ।'

'पहला दृश्य वाटिका का था जिसमें पार्वती(प्रलय के देवता शंकर की पत्नी) बैठी हुई थीं । राम और उनके भाई लक्ष्मण दृश्य में प्रवेश करते हैं और वहाँ सीता के प्रत्याशित आगमन के विषय में आपस में कुछ बात करने के बाद माली से फूल चुनने की अनुमति माँगते हैं । अभी दोनों भाई फूल चुन रहे हैं कि सीता सखियों के झुंड के साथ प्रवेश करती हैं । वह देवी की पूजा करने के बाद

वाटिका में टहलने लगती हैं। इसी बीच एक सखी सीता के पास आती है और उनसे कहती है कि उसने अनुपम सौंदर्य से मंडित एक युवक को बगीचे में घूमते देखा और उनसे संमोहित होकर अचेत-सी हो गई। सखियाँ जब राम के विषय में वार्तालाप कर रही थीं तभी वे स्वयं वहाँ पहुँच गए और सीता के सौंदर्य से अभिभूत हो गए। राम ने कहा, उनके जैसे निष्काम व्यक्ति के मर्म में भी कामदेव का बाण विंध गया। तब राम, और सखियों सहित सीता का मंच से निष्क्रमण होता है।

'दूसरा और अंतिम (तीसरा) दृश्य राजभवन का था जहाँ सीता के पिता राजा जनक बैठे थे। सीता से विवाह करने आए विभिन्न देशों के राजा तरह तरह की पोशाकों में प्रवेश करके कतारें बना रहे थे। सबके अंत में राम ने दृश्य में प्रवेश किया था। जब सभी राजाओं ने आसन ग्रहण कर लिया, यह घोषणा की गई कि जनक ने उसीको अपनी कन्या देने की प्रतिज्ञा की हैं कि जो राज-भवन में रखे धनुष को ऊपर उठा लेगा। एक के बाद एक सभी राजाओं ने धनुष उठाने की कोशिश की, लेकिन सबके सब असफल रहे। इसके बाद राम उठे, उन्होंने धनुष को ऊपर उठाया और उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। राम के इस वीरतापूर्ण करतब के बाद उनका सीता के साथ विवाह हुआ।

'तब परशुराम आए जो राम पर बेहद क्रोधित हुए और उन्होंने लक्ष्मण को मारने की कोशिश की। लेकिन जब जोर अजमाने के लिये परशुराम द्वारा दिए गए धनुष की प्रत्यंचा राम ने खींचकर दिखा दी तब उन्होंने राम की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली और संतुष्ट हो गए।

'इस प्रकार यह मनोरंजक कार्यक्रम समाप्त हुआ। ऐसा लगता है कि यह नाटक संस्कृत के हनुमन्नाटक के प्रथम अंक के आधार पर तैयार किया गया है।'

लगभग एक महीना बाद सात मई उन्नीस सौ अड़सठ को लंदन से प्रकाशित होनेवाले एलेन्स इंडियन मेल में यह विवरण छपा।

इस घटना के संपूर्ण विवरण की पुनर्प्रस्तुति में सर्वश्री शरद नागर, धीरेंद्र नाथ सिंह और कुंवरजी अग्रवाल का विशेष योगदान है। शरद नागर ने एलेंस इंडियन मेल में छपी समीक्षा की फोटोस्टेट प्रति ब्रिटिशम्यूजियम से मंगाकर अपनी

टिप्पणी के साथ धर्मयुग में छपवायी जिससे हिंदी-संसार का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। धीरेंद्रनाथ सिंह ने जानकीमंगल की दुर्लभ प्रति को ढूंढ़कर नागरी प्रचारिणी सभा से पुनः प्रकाशित कराया और कुँवरजी अग्रवाल ने इतिहास में गुम हो गए बनारस थियेटर का अनुसंधान कर जानकीमंगल के प्रस्तुतिस्थान को निश्चित कर दिया।

जानकीमंगल की इस ससमारोह-प्रस्तुति का असर बनारस में आधुनिक नाट्यपरिवेश रचने की दृष्टि से गहरा पड़ा और यहाँ के अभिजात कुलीन वर्ग के अनेक लोग नाट्यकर्म के प्रति आकृष्ट हुए। किंतु इससे सर्वाधिक सर्जनात्मक प्रेरणा मिली अनूठी प्रतिभा के धनी हरिश्चंद्र को जिन्होंने आधुनिक हिंदी नाट्यांदोलन का न सिर्फ श्रीगणेश किया बल्कि उसे एक सार्थक दिशा भी प्रदान की।

जानकीमंगल नाटक

अर्थात्

धनुर्यज्ञ की लीला का अभिनय

वाराणसी राजकीय संस्कृत विद्या मंदिराध्यापक

त्रिपाठि श्री पं० शीतलाप्रसाद शर्मा ने

नाटक रसिकों के विनोदार्थ

तुलसी कृत रामायण की मूल स्थापना कर हिन्दी भाषा में निर्माण किया

प्रयाग

ज्ञान मार्तण्ड यंत्रालय में मुद्रित हुआ

संवत १९३३

भूमिका

यद्यपि यह नाटक संस्कृत के बड़े बड़े नाटकों की उत्तमता और श्रेष्ठता को नहीं पहुँच सकता परंतु उस विद्या का प्रचार और ऐसी लीला का अभिनय इस देश से आपाततः उन्मूलित हो गया। यहाँ तक कि लोग जानते भी नहीं कि नाटक कैसा काव्य और कौन वस्तु है। और न उन्हें यही यथोचित ज्ञान है कि संस्कृत में थोड़े से नाटक जो काल की गति से शेष रह गए हैं वे कौन कौन से परमोत्कृष्ट गुण विशिष्ट हैं। इस हेतु मैंने इसका निर्माण हिंदी भाषा में किया है। आशा है कि यह रसिकजनों को मनोरंजक और सर्वसाधारण लोगों को आनंददायक है।

इस नाटक का अभिनय पहली वार बनारस के थियेटर रौयल में श्रीयुत महाराजाधिराज काशीनरेश बहादुर की आज्ञानुसार चैत्र शुक्ल ११ संवत् १९२५ को हुआ।

वैशाख कृष्ण ४
संवत् १९३३

शीतलाप्रसाद त्रिपाठी

॥ श्रीः ॥

जानकीमंगल नाटक

नन्दी

पुष्पेभ्यो विचरन् विदेहनृपतेः क्रीडावनं सानुजो
दृष्ट्वा तत्तनयां हृदि प्रमुदितोऽलङ्कारभूतां भुवः ।
प्राप्तो रङ्गमहीं महेश्वरधनुर्भङ्क्त्वा वृतः सीतया
जित्वा भार्गवमर्चितः सुरगणैः श्रीराघवः पातु वः ।।

अपि च

या पूर्णचन्द्राधिकसुन्दरास्या या शुद्धचामीकरदेहकान्तिः ।
या रामचन्द्राऽमृतपानलुब्धा सा जानकीमङ्गलमातनोतु ॥

(नान्दी पाठ के अनन्तर)

सूत्रधार--(नेपथ्य की ओर देखकर) प्यारी ! सिंगार कर चुकी हो और वस्त्र आभूषण पहिने लिये हो तो यहाँ आओ ।

नटी--(रङ्गशाला में आकर) प्राणनाथ ! क्या आज्ञा होती है ।

सूत्र०---प्यारी ! आज श्रीयुत महाराजाधिराज काशीराज द्विजराज श्री ईश्वरीप्रसादनारायण सिंह वीरपुंगव की इस सभा में बड़े-बड़े विद्यावान्, बुद्धिमान्, गुणग्राही महाशय इकट्ठे हुए हैं । इन लोगों ने परम अनुग्रह करके हम लोगों को आज्ञा दी है कि किसी अपूर्व नाटक की लीला करके दिखाओ । प्यारी ! देखो, कैसे आनन्द की बात है यह नाटक की लीला पहले हमारे इस भारतखण्ड की सकल लीलाओं में शिरोमणि गिनी जाती थी । और महाराज विक्रम आदि बड़े-बड़े राजाओं की सभा में इसकी लीला होती थी । और कालिदास आदि बड़े-बड़े कवियों ने इस विषय पर जो अनेक अद्भुत प्रबन्ध

निर्माण किये हैं सो अब तक वर्तमान हैं परन्तु काल के माहात्म्य से हम लोगों का यह परम सुखदायक विलास बहुत दिनों से लोप हो गया था और इसका व्यवहार भी सम्पूर्ण रूप से उठ गया था; आज परम सुदिन है कि इन महाशयों के अनुग्रह से फिर इसका नवीन अवतार हुआ चाहता हैं। प्यारी ! मैं तुमसे यह बात पूछता हूँ कि आज हम लोग कौन-से नाटक की लीला करें जिसे देखकर इन महाशयों के चित्त को आनन्द हो।

नटी--प्राणप्रिय ! मेरी बुद्धि में यह बात आती हैं कि इन महाशयों के सम्मुख रघुनाथ के चरित्रामृत की लीला हो तो बहुत अच्छा।

सूत्र०--प्राणप्रिये ! रघुनाथ के चरित्र तो अनन्त हैं। और कवियों ने अनेक चरित्रों पर अनेक प्रकार के नाटक के ग्रन्थ रचे हैं। हम किस नाटक की लीला करे।

नटी--प्राणनाथ ! रघुनाथ के सकल चरित्र आनन्द की खान और भक्त जनों के मन को सुखदान हैं परन्तु मुझे तो जनकनन्दिनी के विवाह की कथा अति प्रिय लगती है और दृढ़ विश्वास है कि इन सभासद लोगों के हृदय को भी अति सुखदायक होगी।

सूत्र०--(**अति प्रसन्न होकर**) प्राणप्रिये ! वाह ! तुमने बहुत अच्छी बात कही। रघुनाथ के विवाह के चरित्र मेरे भी मन को अति भावते हैं। इसलिये हम लोग आज काशीवासी कविवर श्रीयुत पण्डित शीतलाप्रसाद त्रिपाठीजी की लेखनी से निर्गत जानकीमंगल नाम नाटक लीला इस सभा में करेंगे।

(**नेपथ्य में कोलाहल**)

नटी-- प्राणनाथ ! यह क्या कोलाहल होता हैं।

सूत्र--प्यारी ! मैंने ध्यान नहीं दिया।

(**फिर नेपथ्य में कोलाहल**)

सूत्र०--हाँ ! समझा, श्री अवधेश महाराजाधिराज के राजकुमार राम और लक्ष्मण जनक महाराज का धनुर्यज्ञ देखने को मिथिला नगर में आये हैं। इस समय विश्वामित्र मुनि से आज्ञा लेकर पुष्पवाटिका में फूल लेने को जाते हैं।

हर एक गली और सड़कों में लोग उनकी अद्‌भुत सुन्दरता देखने को इकट्‌ठे हुए हैं, उन्हींका कोलाहल हो रहा है।

नटी—प्राणनाथ ! चलिये हम लोग भी उन राजकुमारों का दर्शन कर जन्म सुफल करें।

सूत्र०—प्राणप्यारी ! शीघ्र चलो।

(दोनों नेपथ्य में जाते हैं)

प्रस्तावना समाप्त।

प्रथम अंक

(स्थान–वाटिका । मध्य में सरोवर और उसके तट पर गिरिजा का मन्दिर । माली बाग सुधारते और गाते हैं)

गीत

आजु जानकी केर विवाहू । आये इहाँ सकल नर नाहू ॥
माच्यो घर घर परम उछाहू । सब मिलि भूप दुआरे जाहू ॥
होइहैं हमें बहुत कुछ लाहू । दधि च्यूरा भर इच्छा खाहू ॥

(राम और लक्ष्मण का प्रवेश)

राम––लक्ष्मण ! देखो यह कैसी सुन्दर वाटिका है, इसमें कैसे मनोहर वृक्ष लगे हुए हैं, इन पर चातक, कोकिला, चकोर इत्यादि पक्षी कैसी मीठी-मीठी बोलियाँ बोल रहे हैं; और देखो इसके मध्य में यह सरोवर कैसा रमणीय है। इसमें अनेक रंग के कमल खिल रहे हैं और हंस, सारस इत्यादि जल के पक्षी कलोल कर रहे हैं, वृक्षों पर ठौर-ठौर भौंरे कैसे मधुर स्वर में गूंज रहे हैं।

लक्ष्मण––भैया ! सत्य है । भैया ! हमने सुना है कि इस समय जनक राज-किशोरी इस बाग में गिरिजा पूजने आवेगी इसलिये फूल जल्दी से तोड़ लीजिये तो अच्छा ।

राम––अच्छा पहले इन मालियों से पूछ लो ।

लक्ष्मण––(मालियों से) क्यों जी हम लोग इस बाग में से कुछ फूल ले लें ?

माली––राजकुमार ! यह वाटिका आपही की है । चाहिए जितना फूल फल लीजिये । (दोनों भाई फूल तोड़ते हैं । गाती हुई सखियों समेत सीता का प्रवेश) ।

गीत

जय जय जगजननि देवि सुर नर मुनि असुर
सेवि भुक्ति मुक्ति दायिनि भय हरनि कालिका ॥ १ ॥
मंगल मुद सिद्धि सदनि पर्व शर्वरीश बदनि
ताप तिमिर तरुन तरनि किरन मालिका ॥ २ ॥
वर्म चर्म कर कृपान सूल सेल धनुष बान
धरनि दलनि दानव दलन करालिका ॥ ३ ॥
पूतना पिशाच प्रेत शाकिनी डाकिनी
समेत भूत ग्रह वेताल खल मृगाली जालिका ॥ ४ ॥
जग महेश भामिनि अनेक रूप नामिनि
समस्त लोक स्वामिनि हिम शैल बालिका ॥ ५ ॥
सुन्दर वर सुभ संयोग माँगति सब
कुंअरि जोग देहु ह्वै प्रसन्न पाहि प्रणत पालिका ॥ ६ ॥

(सीता सरोवर में मार्जन करके गिरिजा के मन्दिर में जाकर पूजन करती हैं। प्रेमसखी बाग देखने आती है और राम-लक्ष्मण को देखकर अति आनन्द में भरी हुई जानकी के पास लौट आती है।)

चतुर सखी––रे सखी ! तू इतनी मगन क्यों दीख पड़ती है ?

प्रेम सखी––हे आली ! दो राज कुंअर इस बाग में आये हैं; मैं उनकी सुन्दरता का वर्णन कहाँ तक करूँ। जब से मैंने देखा तन मन की सुध भूल गई है, उनकी अवस्था किशोर, सब भाँति से सुन्दर और सुहावने हैं।

चौपाई

स्याम गौर किमि कहो बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥

कवित्त

जुगल कुमार सुकुमार महा मारऊतें आई घेरि आली जिन्हें शोभा त्रिभुवन की।
अधर ललाई दृग देखे बनि आवै जिन जीती है ललाई औ लोनाई पदमन की ॥
फूल फुलवाई में चुनत दोऊ भाई प्रेम सखि लखि आई गहे लतिका द्रुमन की।
चलत सोहाथ भोर जिअरा डराय हाय मेड़ि जाय पाय पाँखुरी सुमन की ॥

(सब सखी जानकी की ओर देखकर मुसकराती हैं ।)

रहस्य सखी--हे आली ! मैं जानती हूँ कि ये वे ही राजकुमार है जो मुनि के साथ कल्ह हमारे नगर में आये हैं और जिन्होंने सारे नगर में अपने रूप की मोहिनी डाल दी हैं और सकल नर-नारियों को बस में कर लिया है। आली ! आज कल्ह हर जगह इनकी सुन्दरता की धूम हैं। और जहाँ तहाँ सब लोग उन्हीं की छवि का वर्णन करते हैं चलो हम सब उन्हें देख आवें, वे देखने के योग्य हैं।

कवित्त

चतुर सखी--एरी सखी !

रामरूप देखिवे को चाहती हौ बूझौ तो,
बुलाय काहू जुवती सयानी सों।
मिथिला सहर बीच कहर परचौ है मई,
घायलै घनेरी कहूँ झूठ ना जवानी सों॥
वेधी परीं प्यारी नारी गयलन अटारिन पै,
तीखे नयन बान मारे भौंह धनु तानी सों।
अति मंजु मंद हाँसी फाँसी गर डारि डारि,
कीन्हीं कतलाम केतो जुलुफ कृपानी सों॥

(सीता अत्यन्त प्रसन्न होकर उसी प्रिय सखी को आगे करके चलती है और आगे बढ़के सचकित हो इधर-उधर देखती हैं।)

राम--**(आभूषण का शब्द सुनकर)** लक्ष्मण ! सुनो, यह कैसा मधुर-मधुर शब्द सुनाई देता है मानो कामदेव डंका बजाता चला आता है और सारे जगत् को जीतना चाहता है **(यह कह कर उस ओर देखते हैं और एकाएक जानकी के मुखारबिन्द पर दृष्टि पड़ती है। एकटक देखकर। स्वगत)** वाह ! कैसा रूप है मानो ब्रह्मा ने इसे प्रगट करके अपनी सारी चतुराई जगत् को दिखाई है। यह बाला सुन्दरता को भी सुन्दर कर रही है और छवि के गृह में दीपशिखा-सी बर रही हैं।

(प्रकाश में) हे तात ! यह वही जनकनन्दिनी है जिसके लिये धनुर्यज्ञ होता है। सखियों को सँग ले गौरी का पूजन करने आई है। इस पुष्पवाटिका को प्रकाश करती फिरती है। इसकी अपूर्व शोभा को देख मेरे स्वाभाविक पुनीत मन को भी क्षोभ होता है, इसका कारण विधाता जाने। मेरे दाहिने अंग फड़कते हैं। लक्ष्मण ! रघुवंशियों का यह सहज ही सुभाव हैं कि उनमें से कोई भी कभी कुपंथ पर पाँव नहीं रखता। मुझे अपने मन का परम विश्वास है जिसने स्वप्न में भी पर स्त्री की ओर नहीं देखा। लक्ष्मण ! जो संग्राम में शत्रु को पीठ नहीं दिखाते और पर-स्त्री की ओर मन और दृष्टि को नहीं लगाते जिनके द्वार से मंगन फेरा नहीं पाते ऐसे उत्तम पुरुष संसार में बहुत थोड़े होते है।

लक्ष्मण——भैया यथार्थ है।

(सीता इधर उधर देखती है। प्रेमसखी लता की ओट में रामचन्द्र को दिखाती है। राम को देखकर आनन्द से मग्न होकर नेत्र को मूंद लेती है। दोनों भाई लता की ओट से निकल आते हैं।)

एक सखी——(हँसकर) आली ! गौरी का ध्यान फिर कीजियो इस समय राजकुमार को आँख भर देख लो।

सीता——(सकुच कर आँखें खोल देती है। स्वगत) हाय ! यह कोमल मूर्ति और पिता का वह कठोर प्रण।

(सब सखी हँसती हैं)

एक सखी——आली ! आज चलो कल्ह फिर इसी समय यहाँ आवेंगी।

सीता——(सुनकर लज्जित होके पछताती हुई चलती है। और गिरिजा के सम्मुख जाकर प्रणाम करके हाथ जोड़ के स्तुति करती हैं।)

चौपाई

जय जय जय गिरिराज किशोरी। जय महेश मुख चन्द चकोरी ॥
जय गजवदन षडानन माता। जगत जननि दामिनि दुति गाता ॥
नहि तव आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना ॥
भव भव विभव पराभव कारिणी। विश्व विमोहिनी स्ववस विहारिणी ॥

दोहा

पति देवता सुतीय महँ, मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न कहि सकहिं, सहस शारदा शेष ॥

चौपाई

सेवत तोहि सुलभ फल चारी। वरदायिनि त्रिपुरारि पियारी ॥
देवि पूजि पद कमल तुम्हारे। सुर नर मुनि सब होहि सुखारे ॥

(गौरी के कंठ से माला गिरती है। सीता प्रणाम करके माला उठाकर गले में पहिन लेती है।)

गौरी--सुनो जानकी ! मेरा आशीर्वाद सच है। तुम्हारे मन की कामना पूर्ण होगी। नारद का वचन कभी मिथ्या नहीं होता। तुमको वह वर मिलेगा जिस पर तुम्हारा मन लगा है।

छन्द

मन जाहि राच्यो मिलिहि सो वर सहज सुन्दर साँवरो।
करुणा निधान सुजान शील सनेह जानत रावरो ॥

(वह सुनकर प्रसन्न होकर सखियों के साथ बायें अंग का फड़कना देखती हुई जानकी एक ओर से राम और लक्ष्मण दूसरी ओर से जाते हैं।)

(जवनिका गिरती है)

प्रथम अङ्क समाप्त

द्वितीय अंक

स्थली २

(राजसभा, राजाओं का सिंहासन, मध्य में सब सिंहासनों से उत्तम और ऊँचा एक सिंहासन, धनुष, रानियों का महल, राजा जनक, सतानन्द, बन्दीजन)

जनक--(सतानन्द जी से) पुरोहितजी ! महाराज दशरथ के राजकुमार राम और लक्ष्मण विश्वामित्र मुनि के साथ हमारे नगर में धनुष-यज्ञ देखने को आये हैं। चैत्ररथ बाग में डेरा किया है। आप जाकर उनको यज्ञशाला में ले आइये।

सतानन्द--महाराज ! जैसी आज्ञा।

(नेपथ्य में जाते हैं, बाजा बजता है। प्रथम राजा का प्रवेश)

बन्दी--(आगे बढ़कर राजा को ले आता है। जनक से) महाराजाधिराज ! यह मगध देश के राजा प्रतापमुकुट हैं। इनका यश और प्रताप पृथ्वी मंडल में छाय रहा है। इनके भय से शत्रु लोग रात-दिन थर-थर काँपते हैं।

(दूसरे राजा का प्रवेश)

बन्दी--महाराज ! यह उज्जैन के राजा हैं। जब इनकी सवारी निकलती है तो घोड़ों के टाप की धूल बड़े-बड़े राजाओं के मुकुट की मणि की चमक को छिपा देती है।

(तीसरे राजा का प्रवेश)

बन्दी--महाराज ! यह कश्मीर के राजा हैं। सब विद्याओं में निपुण और सर्वदा पंडितों का सत्कार करते हैं। इन्होंने लक्ष्मी की चंचलता के दुर्यश को दूर कर दिया है क्योंकि लक्ष्मी कभी इनका परित्याग नहीं करती। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि लक्ष्मी और सरस्वती दोनों एक ही पुरुष के अधीन हों।

(चौथे राजा का प्रवेश)

बन्दी--महाराज ! यह सुषेन नाम मथुरा के राजा हैं। यह अपने दोनों

कुल के दीपक हैं और इनके शरीर की कान्ति मित्रों को पूर्णचन्द की नाईं सुखदाई और शत्रुओं को ग्रीष्म ऋतु के सूर्य की नाईं दुस्सह है।

(पाँचवें राजा का प्रवेश)

बन्दी--महाराज ! यह हेमांगद नाम राजा हैं। महावली और बड़े प्रतापी हैं। महेन्द्र पर्वत और समुद्र इन दोनों पर इनका अधिकार है।

(छठे राजा का प्रवेश)

बन्दी--महाराजाधिराज ! यह नागपूर के राजा हैं। गले में मोतियों का हार पहिरे हुए ऐसे शोभायमान हैं कि जैसे तारों से चन्द्रमा की शोभा होती है। महाराज ! जब लंकापति रावण इन्द्रलोक के विजय को जाने लगा तब उसको यह भय हुआ कि यह राजा कहीं हमारे पीछे लंका पर चढ़ाई न करे इसलिये वह इससे मिलकर के तब गया।

(सातवें राजा का प्रवेश)

बन्दी--महाराज ! यह पंजाब देश के राजा हैं। इनका यश स्वर्ग, मृत्युलोक और पाताल इन तीनों स्थानों में फैल रहा हैं। इनके राज्य में ऐसा प्रबन्ध है कि जब बिलासिनी वाटिका में विहार करके घर को फिरती हैं और जो आलस्य से कहीं मार्ग ही में निद्रा आ जाती हैं तो वायु को भी सामर्थ्य नहीं कि उनके वस्त्र को स्पर्श कर सके और मनुष्य की तो क्या गति है।

(आठवें राजा का प्रवेश)

बन्दी--महाराज ! यह नैपाल देश के राजा हैं। इनकी सुन्दरता पर अप्सराएँ मोहित होती हैं। इनके यहाँ ऐसे ऊँचे और मतवाले हाथी हैं कि जिनके आगे ऐरावत भी कुछ नहीं है।

(नवें राजा का प्रवेश)

बन्दी--महाराज ! यह गुजरात देश के राजा हैं। यह प्रजा का ऐसे पालन करते हैं जैसे पिता पुत्र का पालन करे। इनके यश के आगे चन्द्रमा मलिन और प्रताप के आगे सूर्य ठंडा मालूम होता है।

(दशवें राजा का प्रवेश)

बन्दी--महाराज ! यह वंगदेश के राजा हैं। ऐश्वर्य को देखकर शत्रु भी लज्जित होता है। बड़े गुणी, बड़े प्रतापी, वड़े सुशील हैं। क्षमा के तो समुद्र हैं। शत्रु पर भी क्षमा करना इन्हीं का काम है।

(नेपथ्य में कोलाहल। रावण का प्रवेश)

(जनक और सब राजा घबड़ा कर उठ खड़े होते हैं, जनक अचम्भित और भयातुर होकर देखते हैं। रावण सिर उठा के क्रोध से उनकी ओर देखता है, वह आँखें नीची कर लेते हैं। रावण धनुष की ओर बढ़ता है)।

बन्दी--महाराज ! महाराज ! यह वह लंकापति रावण हैं जिनके भुज-बल को कैलाश पर्वत जानता है और जिसने अपने मस्तकों को अपने हाथ से काट-काटकर फूल के बदले महादेव को चढ़ाये हैं। इनके पराक्रम को देवता लोग भलीभांति जानते हैं। उनके हृदय में इनका पराक्रम शूल के समान आज तक चुभता है। महाराज ! इनकी छाती की कड़ाई को दिग्गज जानते हैं। जब यह उनसे जाकर भिड़ते हैं और अपनी छाती से उनके दाँतों में टक्कर मारते हैं तब उनके दाँत मूली की नाईं पट्ट से उखड़ जाते हैं। इनके चलने के समय पृथ्वी ऐसी डगमग करती हैं जैसे हाथी के चलने से छोटी डोंगी।

(रावण धनुष के पास जाकर देखता है और फिर नीचा सिर किये आकर बैठ जाता है)।

(बाणासुर का प्रवेश)

बन्दी--महाराज ! यह बली के पुत्र और श्रोणितपुर के राजा बाणासुर हैं, त्रिलोकी को जीत सब देवताओं को बस में कर अपने नगर के चारों ओर जल की चुआन चौड़ी खाई और अग्नि पवन के कोट के बनाय निर्भय राज करते हैं। त्रिभुवन में इनका सामना करनेवाला कोई नहीं है।

रावण--(बन्दी से) चुप रह। (फिर बाणासुर से) तुम क्यों आये हो ?

बाणासुर--इस धनुष को तोड़ जानकी को विवाह ले जाऊँगा। (बड़े घमंड से धनुष के पास जाकर उसे देखकर सिर नीचा करके पीछे हट जाता है)

लंकेश ! हम तुमसे कुछ कहा चाहते हैं।

(दोनों नेपथ्य में जाते हैं। राम लक्ष्मण और विश्वामित्र का प्रवेश)

जनक--(उठकर मुनि का चरण छू कर रंगशाला दिखाते हुए धनुष के पास ले जाकर) मुनिराज ! सुनिये किसी समय त्रिपुरारि त्रिपुरासुर को मारि मिथिलापुर पधारि यह धनुष यहाँ धर गये। पहले यह धनुष हमारे मन्दिर से दूर रहा और मैं नित्य इसकी पूजा करने को जाता था। एक दिन कुमारी मेरे साथ गई और जब मैं पूजा करके चला आया तो उसके मन में यह बात आई कि मेरे पिता को यहाँ आने में बड़ा श्रम होता है सो धनुष उठाकर मेरे पास ले आई और पूछा कि जहाँ आज्ञा हो वहाँ रख दूँ, आप इसी महल में धनुष की पूजा कर लिया करें। हे मुनिराज ! उस दिन से मैंने यह प्रतिज्ञा की है कि जो कोई इस धनुष को तोड़ेगा मैं कुमारी का विवाह उसीसे करूँगा। इसी कारण से देश देश के नरेश इस रंगभूमि में आज इकट्ठे हुए हैं। आप लोग इस आसन पर विराजें।

(राम, लक्ष्मण, विश्वामित्र बैठते हैं। आकाश से पुष्प वृष्टि होती है)।

जनक--(बन्दी से) मंजरीक ! जाओ सीता को ले आओ !

बन्दी--महाराज ! जैसी आज्ञा। (नेपथ्य में जाता है)

(सखियों समेत हाथ में जयमाल लिये जानकी का प्रवेश)

सखियों का गीत

सुमन सुमंगल सगुन की बनाय मंजु मानहु मदन माली आप निरमई है। जयमाल जानकी जलज कर लई हैं।

(आकाश में दुन्दुभी बजती है और पुष्प की वृष्टि होती है। सब राजा जानकी की ओर चकबका कर देखते हैं सीता नेत्र उठा कर इधर-उधर देखती है। रामचन्द्र को देख कर मुस्करा कर सिर नीचा कर लेती है)।

जनक--(बन्दी को निकट बुलाकर धीरे से) मंजरीक ! हमारी प्रतिज्ञा इन राजा लोगों को सुना दो।

बन्दी--महाराज ! जैसी आज्ञा। (हाथ उठाकर) हे सकल महिपाल ! इस बात को ध्यान देकर सुनो। यह शिवजी का धनुष राजाओं के भुजबल रूपी

चन्द्र का ग्रसनेवाला राहु है और सब कोई जानते हैं कि यह कैसा भारी और कैसा कठोर है। रावण,वाणासुर ऐसे भारी भट भी इसे देखकर गर्व से चल दिये इसलिये हमारे महाराज जनक की यह प्रतिज्ञा है कि जो कोई इस राजसभा में आज इस धनुष को तोड़ेगा, त्रिभुवन के विजय समेत कन्या उसको निस्संदेह मिलेगी।

(आठ राजा बारी-बारी से उठ कर कमर बाँध कर अपने इष्ट देवता को प्रणाम करके धनुष के पास जाते हैं और तमकि के उठाने लगते हैं। जब नहीं उठता तब अपने आसन पर फिर आते हैं। इसके पश्चात् कई राजा एक ही बार उठाने लगते हैं और नहीं उठता तो लजा के अपने आसन पर आकर मस्तक नीचा करके बैठ जाते हैं)।

जनक--(राजाओं को देख क्रोध करके)--हमारी प्रतिज्ञा को सुनकर ऐसा कौन-सा देश है कि जिसका राजा आज यहाँ नहीं आया। और कहाँ तक कहें! देवता और दैत्य भी मनुष्य का रूप धरके आये। बड़े-बड़े वीर और रणधीर इस रंगभूमि में विराजमान हैं। कुंअरि मनोहर और वड़ी विजय और कीरति अति कमनीय इन तीनों अद्भुत पदार्थों का पाने वाला वह पुरुष होता जो धनुष तोड़ता, सो इसके योग्य कोई पुरुष मानों विधाता ने रचा नहीं। इस बड़े लाभ में लोभ किसको नहीं है। भला तोड़ना तो किनारे रहा, कोई पृथ्वी से तिल भर हटा भी न सका तो अब कोई न बोल उठे कि मैं बाकी हूँ तोड़ने को। हमने निश्चय किया कि अब पृथ्वी पर कोई वीर न रह गया। इसलिये आप लोग आशा को परित्याग करके अपने अपने घर को जाइये। क्या कीजियेगा, ब्रह्मा ने जानकी का विवाह ही नहीं लिखा है। यदि अपनी प्रतिज्ञा छोड़ दूँ तो धर्म जाता है। कुंअरि कुंआरी रहेगी इसको मैं क्या करूँ। यदि जानता कि पृथ्वी पर कोई वीर नहीं है तो ऐसी प्रतिज्ञा करके अपनी हँसी न कराता।

लक्ष्मण--(उठकर क्रोध से) जिस सभा में एक भी रघुवंशी होगा वहाँ ऐसी अनुचित बानी जैसी अभी जनक ने रघुकुलमणि के सामने कही है कोई नहीं कहेगा। (रामचन्द्र से हाथ जोड़कर) हे भानुकुल कमलदिवाकर! सुनिये, मैं घमंड नहीं करता अपना स्वभाव कहता हूँ। यदि आपकी आज्ञा पाऊँ

तो सारे ब्रह्मांड को गेंद के समान उठाकर कच्चे घड़े की तरह फोड़ डालूं। और सारे सुमेर पर्वत मूली की तरह तोड़ डालूं। हे स्वामी! आपके प्रताप और महिमा से इस विचारे पुराने धनुष की क्या भुगुत। हे नाथ! यह जान के आप आज्ञा दे दें और मैं जो कौतुक करता हूँ उसको देख लें। कमल की डंठी की नाईं इस धनुष को चढ़ा लूं और चार सौ कोस तक दौड़ता चला जाऊँ। हे नाथ! छत्ते की डंठी की नाईं इस धनुष को आपके प्रताप से तोड़ डालूं और जो यह न करूँ तो हे स्वामी! आपके चरणकमल की शपथ है फिर धनुष बाण हाथ से न छुऊँ।

(जनक सिर नीचा कर लेते हैं, रामचन्द्र लक्ष्मण को नेत्र का इशारा करके पास बैठा लेते हैं)।

विश्वामित्रजी—(रामचन्द्र से) रघुनाथ! बेटा उठो, शिव के धनुष को तोड़कर राजा जनक का दुःख दूर करो।

(रामचन्द्र उठ के गुरु के चरण-कमल को प्रणाम करके मंच पर खड़े होते हैं। पुष्प की वृष्टि और जय जयकार शब्द होता है। फिर गुरु के चरण को प्रणाम करके मन्द-मन्द चलते हैं और धनुष के पास जाकर खड़े होते हैं)।

सुनयना—(सखियों को बुलाकर) हे आली! देखो जो लोग हमारे हितू कहाते हैं सो भी सब तमाशा देख रहे हैं। हाय! यह बात राजा से समझाकर कोई नहीं कहता कि ये बालक हैं और इनके साथ ऐसा हठ करना अच्छा नहीं। जिसको रावण और बाणासुर ने भी हाथ से नहीं छुआ और सारे राजा गर्व करके हारे वह धनुष इस राजकुमार को देते हैं। भला हंस के बच्चे कहीं मन्दराचल को उठाते हैं। आली! आज न जाने राजा की सारी चतुराई कहाँ गई, ब्रह्मा की गति जानी नहीं जाती।

एक सखी—महारानी! तेजवंत को छोटा न समझना चाहिए। कहाँ अगस्त्य मुनि और कहाँ अपार समुद्र को सोखा, यह बात सारे संसार में प्रसिद्ध है। सूर्य का मंडल देखने में कैसा छोटा जान पड़ता है परन्तु उसके उदय होते त्रिभुवन का अन्धकार दूर हो जाता है। महारानी! मन्त्र कैसे छोटे होते हैं परन्तु ब्रह्मा, विष्णु, महेश इत्यादि बड़े-बड़े देवता उनके अधीन हो जाते हैं।

छोटा भी अंकुश बड़े मतवारे गजराज को अपने वश में रखता है। कामदेव के हाथ में धनुष और बाण फूल के हैं परन्तु उसने सारे जगत को बस में कर लिया है। हे महारानी ! आप संशय को अपने मन से दूर कर दें, रामचन्द्र इस धनुष को निःसन्देह तोड़ेंगे।

सीता--(रामचन्द्र की ओर देखकर करुणा से। स्वगत) हे महेश ! हे भवानी ! प्रसन्न होकर आज अपनी सेवा का फल दीजिये। हम पर कृपा कर इस धनुष की गरूआई को दूर कीजिये। हे गणनायक ! बरदायक ! तुम्हारी सेवा मैंने आज ही के लिये की थी। मैं बार-बार विनती करती हूँ इस धनुष की गरूआई अर्थात् भारीपन कम हो जाय। (बार बार रामचन्द्र की ओर देखकर) हाय ! पिता ने यह कैसा दारुण हठ ठाना है, लाभ और हानि का कुछ भी विचार नहीं है। कोई मंत्री मारे डर के समझाकर नहीं कहता। हाय विद्वानों की सभा में यह बड़ा अनुचित होता है। कहाँ वज्र ऐसा धनुष कहाँ कमल ऐसे कोमल श्याम किशोर। हे विधाता मैं कैसे धीरज धरूँ। भला सिरिस के फूल भी कहीं हीरे को बेधते हैं। (बार बार रामचन्द्र की ओर देखकर साँस लेकर) जो कदाचित् तन मन बचन से मेरी प्रीति श्यामसुन्दर के चरण-कमल में सच्ची होगी तो घट घट के अन्तर्यामी भगवान हमको रघुनाथ की दासी बनावेंगे।

चौपाई

जा कर जा पर सत्य सनेहू। मिलें सो ताहि न कछु संदेहू॥

कवित्त

मो मन में निहचौ सजनी यह तातहु तें पन मेरो महा है।
सुन्दर प्यारो सुजान शिरोमणि मो मन में रमि राम रहा हैं॥
रीत पतिव्रत राखि चुकी मुख भाखि चुकी अपनौ दुलहा है।
चाप निगोड़ो अवै जरिजाव चढ़ो तो कहा न चढ़ो तो कहा है॥

लक्ष्मण—(एक पैर टेक के) हे दशों दिशा के दिग्गज ! हे कमठ ! हे शेष ! हे शूकर ! तुम धीरज धर के पृथ्वी को अच्छी तरह संभाले रहो जिसमें

हिलने न पावै । श्री रामचन्द्र शंकर का धनुष तोड़ना चाहते हैं । तुम लोग मेरी आज्ञा से सावधान हो जाओ ।

(रामचन्द्र चारों ओर देखते हैं और धनुष उठा लेते हैं, चढ़ा के तोड़ डालते हैं, बड़ा शब्द होता है, जय जय मचता है, पुष्प वृष्टि होती है और बाजा बजता है) ।

सतानन्द--(सीता से) राजकिशोरी ! राजकुंअर को जयमाल पहराओ ।

(सीता जयमाल लेकर सखियों के साथ रामचन्द्र के पास जाकर खड़ी होती हैं) ।

सखियों के गीत

मन में मंजु मनोरथ हो री ।
सो हर गौरि प्रसाद एकतें कौशिक कृपा चौगुनी भो री ॥
पन परिताप चाप चिन्ता निशि सोच सकोच तिमिर नहिं थोरी ।
रविकुल रवि अवलोकि सोभा सर हितचित वारिज वन विसको री ।
कुँअर कुँअरि दोउ मंगल मूरति नृप दोउ धर्म धुरन्धर धोरी ।
राज समाज भूरि भागि जिन लोचन लाहु लह्यौ इकठोरी ॥
ब्याह उछाह राम सीता को सुकृत सकल विरंचि रच्यौ री ।
घर घर मुद मंगल मिथिलापुर चिरजीवी यह सुन्दर जोरी ॥

(जानकी जयमाल पहिराती है)

सखियों के गीत

लेहु री लोचननि को लाहु ।
कुँअर सुन्दर साँवरो सखि सुमुखि सादर चाहु ॥
खण्डि हर कोदण्ड ठाढ़ो जानु लम्बित बाहु ।
रुचिर उर जयमाल राजति देति मुख सब काहु ।
चितै चित हित सहित नखसिख अंग अंग निबाहु ॥
सुकृत निज सीय राम रूप विरंचि मीतहिं सराहु ।

मुदित मन वर बदन सोभा उदित अधिक उछाहु ॥
मनहु दूर कलंक करि ससि समर रूधो राहु ।
नयन सुखमा अयन हरत सरोज सुन्दर ताहु ॥
वसहु इहिं छबि सदा उरपुर जानकी को नाहु ।

(सीता सखियों समेत नेपथ्य में जाती है । रामचन्द्र विश्वामित्र के पास जाते हैं) ।

द्वितीय अङ्क समाप्त ।

तृतीय अंक

(स्थली पहले की । नेपथ्य में कोलाहल । परशुराम का प्रवेश । सब राजा खड़े होते हैं ।)

एक राजा——महाराजा । मैं अमुक देश का राजा हूँ । आपके चरण कमल को प्रणाम करता हूँ ।

दूसरा राजा——महाराज । मैं अमुक देश का राजा हूँ ।

(इस प्रकार से सब उठकर क्रम क्रम से प्रणाम करते हैं । जनक आप प्रणाम करके सीता को बुलाय प्रणाम कराते हैं ।)

परशुराम——पुत्री तेरा कल्याण हो ।

(सीता सखियों समेत नेपथ्य में जाती है । विश्वामित्र राम लक्ष्मण को चरणों पर गिराते हैं ।)

राजकुमार सुखी रहो (जनक की ओर देख के क्रोध से) आज क्यों इतनी भीड़ है ?

जनक——(हाथ जोड़कर) महाराज ! हमने प्रतिज्ञा की थी कि जो कोई शिव का धनुष तोड़ेगा···· ····।

परशुराम——(चारों ओर देखते हैं । धनुष टूटा देखकर क्रोध से) अरे जड़ जनक यह धनुष किसने तोड़ा है । अरे मूढ़ हमको जल्दी दिखा नहीं तो जहाँ तक तेरा राज है उतनी पृथ्वी आज उलट दूँगा ।

(जनक थर थर काँपते हैं और सिर नीचा किये खड़े रहते हैं ।)

एक राजा——(दूसरे राजा से) क्यों जी ! धनुष का तोड़ना तो सहज था ।

दूसरा राजा——अब जानकी विवाह ले जायँ तो जाने ।

तीसरा राजा——यह लड़के तो कुछ भी नहीं हैं । जो काल भी होता तो हम उससे एक वार सामना करते ।

सुनयना——(स्वगत) हाय ! विधाता ने सब बनी बनाई बिगाड़ दी ।

रामचन्द्र--(परशुराम से) हे स्वामी ! शिव के धनुष को तोड़नेवाला कोई आपका दास ही होगा। क्या आज्ञा है सो कहिये।

परशुराम--(क्रोध से) दास उसको कहते हैं जो दास का काम करे और जो शत्रु की करनी करे उसको लड़ना चाहिये। हे राम ! सुनो, जिसने शिव के धनुष को तोड़ा है वह सहस्त्रबाहु के समान मेरा बैरी है। वह इस समाज में उठ कर किनारे खड़ा हो नहीं तो जितने राजा हैं सब के सब मारे जायेंगे।

लक्ष्मण--(मुस्कराकर) हे गोसाई ! हमने लड़कपन में ऐसी बहुत धनुही तोड़ी परन्तु आपने ऐसा क्रोध कभी नहीं किया, इस धनुष पर आपकी इतनी ममता का कारण क्या है।

परशुराम--(क्रोध से तड़प के) अरे राजकिशोर ! काल के बस हुआ है ? संभाल के नहीं बोलता। यह त्रिपुरारि का धनुष जो सारे संसार में विदित है, धनुही के समान है रे।

लक्ष्मण--(हँसकर) हमारे जान में तो महाराज सब धनुष बराबर हैं इस पुराने धनुष के तोड़ने से हमारी क्या हानि और क्या लाभ है। रघुनाथ ने तो नये के भूल से इसे देखा। और यह उनके छूते ही टूट गया। हे मुनिराय ! इसमें रघुपति का भी कुछ दोष नहीं है। आप क्यों व्यर्थ क्रोध करते हैं।

परशुराम--(फरसा की ओर देखकर) अरे मूर्ख ! तूने मेरे स्वभाव को सुना है ? मैं तुझे बालक जान के नहीं मारता हूँ। अरे जड़ तू मुझको केवल मुनि जानता है यद्यपि मैं बाल ब्रह्मचारी हूँ तो भी यह बात जगत में विदित है कि मैं क्षत्री कुल का द्रोही और परम क्रोधी हूँ। मैंने अपने भुजाओं के बल से कई बार राजाओं को मार-मार पृथ्वी ब्राह्मणों को दे दी। ए राजा के छोकरे ! मेरे फरसे को देख, मैंने इसीसे सहस्त्रबाहु के भुजों को काटा था। ए राजा के लड़के ! तू अपने माता-पिता को शोक-बस क्यों करता है। मेरे इस फरसे ने गर्भ के बालकों को भी नहीं छोड़ा है।

लक्ष्मण--(हँसकर) अहो महा भट मानी मुनीश ! तुम मुझे बार बार फरसा दिखाते हो। तुम फूंककर पहाड़ उड़ाया चाहते हो। यहाँ कोई कोहड़ा

की बतिया नहीं है कि उँगली दिखाने से मुरझा जायगा। हे मुनीश! मैंने तुम्हारा फरसा और धनुष देख कर अभिमान की बातें कहीं। अब तुम्हारे सूत के जनेऊ से जाना कि तुम भृगु मुनि के वंश में हो। अब चाहे जो कहो मैं क्रोध को रोककर सभी कुछ सहूँगा। सुनो मुनिराय! हमारे वंश में देवता, ब्राह्मण, साधु और गौ इन पर सूरताई नहीं होती। तुमको मारने से पाप और तुमसे हारने पर अपकीर्ति है इसलिये तुम चाहे हमको मारो भी पर हम तुम्हारे पैर ही पड़ेंगे। तुम्हारा तो वचन ही कोटि वज्र के समान है। धनुषबाण और फरसा तो व्यर्थ धारण करते हो। मैंने इन चिह्नों को देखकर जो कुछ अनुचित कहा हो सो क्षमा कीजिये, आप धीर और महामुनि हो।

परशुराम—(क्रोध) विश्वामित्र! सुनो, बालक अति मन्द है। यह कुटिल काल के वश हुआ है। यह अपने वंश भर का नाश करेगा। यह सूर्यवंश रूपी चन्द्रमा में कलंक उत्पन्न भया है। इसके सिर पर कोई नहीं हैं। यह महामूर्ख और अत्यन्त निर्भय जान पड़ता है। यह क्षणभर में काल का कलेवा होगा। मैं पुकार के कहता हूँ। पीछे मुझे कोई दोष न देना। तुम बचाया चाहो तो हमारा प्रताप बल और क्रोध सुनाकर इसे मना करो।

लक्ष्मण—हे मुनि! आपके रहते आपका सुयश दूसरा कौन वर्णन कर सकता है। आपने अपनी करनी कई बार कई तरह से अपने ही मुँह से बरनी। जो इतने पर भी आपको सन्तोष न हो तो फिर कुछ क्यों नहीं कहते। रिस को रोक के आप क्यों दुःसह दुःख सहते हैं। आप तो वीर व्रतधारी धीर और निर्भय हैं। गाली देते आप शोभा नहीं पाते। वीर लोग समर में जो काम करते हैं वह अपने मुँह से आप नहीं कहते फिरते। शत्रु को रण में पाकर कायर लोग डींग मारते हैं। आप तो मानों काल को हाँक लाये हैं और बार-बार हमारे वास्ते पुकार-पुकार के बुलाते हैं।

(परशुराम फरसा को उठा कर एक पैर आगे बढ़ा के)

अब हमको लोग दोष न दें। यह कटुवादी बालक बध के योग्य है। लड़का जान के मैंने इसे अब तक छोड़ा था अब यह सचमुच मरने पर भया हैं।

लक्ष्मण—हे भृगुवर! तुम क्या बार-बार मुझे फरसा दिखाते हो। हे

नृपद्रोही ! मैं केवल ब्राह्मण जानकर तुम्हें छोड़ता हूँ। कभी किसी सुभट से रणभूमि में सामना नहीं पड़ा। ब्राह्मण और देवता घर ही के बढ़े हुए हैं।

जनक--राजकुमार। ऐसा न चाहिये।

सभा के लोग--हाँ हाँ, यह बात अनुचित है।

रामचन्द्र--(मुसकुरा कर लक्ष्मण को हाथ के इशारे से मना करते हैं। वह सिर नीचा करके पीछे हट जाते हैं। परशुराम से हाथ जोड़ कर) हे नाथ। वालक पर कृपा कीजिये। अभी तो इसके दूध के दाँत भी नहीं टूटे हैं। आपको इस पर क्रोध करना अनुचित है। आप यह तो विचार करें कि जो यह कुछ भी आपके प्रभाव को जानता तो क्या यह नादान आपकी बरावरी करता। जो लड़के खेल में कुछ अनुचित करते हैं तो गुरु, माता-पिता उन पर क्रोध नहीं करते, परन्तु प्रसन्न होते हैं। आप तो सुशील, धीर और ज्ञानी मुनि हैं। आप इसको बालक और अपना सेवक समझ के इस पर दया करें।

(परशुराम पीछे पैर हटा कर फरसा नीचा कर लेते हैं)

लक्ष्मण—हाँ और क्या (यह कह के मुस्कराते हैं)

परशुराम—(झुँझलाकर) राम ! तेरा भाई बड़ा पापी है। देखने में तो गोरा परन्तु भीतर से काला है। और इसकी जीभ से हलाहल विष बरसता है। यह स्वाभाविक कुटिल और तेरे योग्य भाई नहीं है। यह नीच हमको अपने काल के समान नहीं देखता।

लक्ष्मण--(मुस्कुराके) हे मुनि ! क्रोध नहीं करना चाहिये। क्रोध पाप का मूल है। इससे बड़े बड़े पाप होते हैं। अच्छे अच्छे सज्जन भी क्रोध के वश में होकर अनुचित काम करके सारे संसार को अपना द्रोही जानते हैं। हे मुनि राय ! मैं तो आपका सेवक हूँ। अब कोप छोड़कर मेरे ऊपर दया कीजिये। यह टूटा हुआ धनुष क्रोध करने से जुड़ेगा भी नहीं। आप बहुत देर से खड़े हैं, पाँव दुखते होंगे। कृपा कीजिये बैठ जाइये। और यह जो धनुष आपको बड़ा प्यारा है तो उपाय कीजिये। कोई बड़ा कारीगर बुलाकर बनवाइये।

जनक—राजकुमार चुप रहिये ! यह बात अच्छी नहीं है।

परशुराम—(राम से) तेरा छोटा भाई जान के मैं इसे छोड़ता हूँ। यह

मन का मैंला और तन का सुन्दर है। जैसे सोने के घड़े में विष भरा होय।

(लक्ष्मण मुस्कराते हैं। रामचन्द्र भौं चढ़ाकर लक्ष्मण की ओर देखते हैं। वह गुरु के पास चले जाते हैं)।

राम--(अति नम्रता से हाथ जोड़ कर) हे प्रभु ! सुनिए, आप तो सहज सुजान हैं। आपको वालक की वात पर ध्यान न देना चाहिये। वर्रें और वालक का एक स्वभाव होता है। यह छेड़ने से दुःख देते हैं। बुद्धिमान इनको दोष नहीं देते। हे नाथ ! उसने कुछ आपका नहीं विगाड़ा हैं। अपराधी तो आपका मैं हूँ। अपने दास की नाईं मेरे ऊपर कृपा अथवा क्रोध कीजिये, चाहिये मारिये, चाहिये बाँधिये। मैं तो आपका सेवक हूँ। हे मुनिनायक ! आप जल्दी वतावें। मैं वही उपाय करूँगा जिसमें आपका क्रोध जाता रहे।

परशुराम--राम ! मेरा क्रोध कैसे जाय,देख तेरा भाई अभी तक मेरी ओर ऐंसे देखता है मानों मैं पदार्थ ही नहीं हूँ जो इसके गले में कुठार न दिया तो मैंने कोप करके क्या किया। इस कुठार के घोर शब्द से रानियों के गर्भ गिर जाते थे। और यही फरसा मेरे हाथ में हो और मैं अपने बैरी भूप किशोर को जीता देखूं। हाय ! हाथ तो चलता नहीं और मारे क्रोध के छाती जली जाती हैं। इससे मालूम होता है कि आज इस नृपघाती कुठार की धार जाती रही। विधाता के बाम होने से मेरा स्वभाव भी बदल गया नहीं तो मेरे हृदय में कव किसी पर कृपा होनेवाली थी। दया ने आज मुझे दुसह दुःख सहाया।

लक्ष्मण--(हँस के सिर नीचा कर लेते हैं। स्वगत) वाह क्या बात है। कृपा की तो आप मूर्ति हैं। वचन जो बोलते हैं सो मानो फूल झड़ते हैं। जो कृपा से मुनि की देह जलती है तो क्रोध से ब्रह्मा इनके तन की रक्षा करें।

परशुराम--अरे जनक ! देख यह बालक हठ करके जमपुरी को जाया चाहता है। जल्दी इसको हमारी आँखों की ओट में क्यों नहीं ले जाता। यह नृप बालक देखने में छोटा पर बड़ा खोटा है।

लक्ष्मण--(हँस कर। स्वगत) आप ही अपनी आँख मूंद लीजिये। कहीं कोई दीख नहीं पड़गा।

परशुराम--(राम से क्रोध करके) क्यों रे शठ ! शिव का धनुष तोड़ के हमको बातें बना के समझाता है। तेरा भाई तेरी सलाह से टेढ़ी मेढ़ी बातें बोलता है और विष उगलता है और तू छल से हाथ जोड़ के विनती करता है। अब संग्राम में हमारा सन्तोष कर, नहीं तो आज से राम कहाना छोड़ दे रे ! शिवद्रोही सुनता है कि नहीं, छल छोड़कर हमसे युद्ध कर नहीं तो भाई समेत तुमको अभी मार डालता हूँ।

(परशुराम फरसा उठाते हैं)

राम--(नम्र होकर। स्वगत) हूँ। लक्ष्मण से तो कुछ न चल सकी। अब वह क्रोध हमारे ऊपर निकाला चाहते हैं। हाय ! सुधाई भी कहीं कहीं दुखदाई होती है। टेढ़ा जान के सब किसीको भय होता है। टेढ़े चन्द्रमा को राहु भी नहीं ग्रसता। (प्रकाश) हे मुनीश ! रिस को छोड़ दीजिये। आपके हाथ में कुठार हैं और यह मेरा सिर आपके आगे है। स्वामी ! मुझको अपना दास जान के जिसमें रिस जाय सो कीजिये। सेवक और स्वामी से युद्ध कैसा ? हे विप्रवर ! क्रोध का परित्याग कीजिये। आपका क्षत्रिय भेष देख के बालक ने कुछ कहा उसका भी दोष नहीं है। कुठार, धनुष और वाण हाथ में देख के हमारे भाई ने आपको वीर समझा। और इससे उसको कुछ क्रोध आ गया। आपका नाम जानता था परन्तु आपको पहचानता न था। सुना था पर देखा न था। कुल के स्वभाव से उसने आपकी बातों का उत्तर दिया। हे स्वामी ! जो आप मुनि की नाईं आते तो वह आपके चरण-कमल की धूर अपने सिर से लगाता। अनजाने की चूक क्षमा कीजिये। ब्राह्मण के उर में घनेरी कृपा होनी चाहिये। हे नाथ ! हम आपकी बराबरी कैसे कर सकते हैं। कहाँ सिर और कहाँ पैर। केवल राम, यह छोटा सा नाम हमारा है और उसमें परशु लगने से आपका नाम बड़ा है। महाराज, हमारे पास तो एक गुण का धनुष है और आपके कंठ में तो परम पुनीत नवगुण है। इसलिये हम तो सब तरह से आपसे हारे हैं। हे विप्र ! आप कृपा करके हमारे अपराध को क्षमा कीजिये।

परशुराम--(क्रोध से) तैं भी अपने भाई की तरह कुटिल है। क्यों हमको निपट ब्राह्मण ही समझता है। तू सुन मैं जैसा ब्राह्मण हूँ। मेरा धनुष श्रुवा था

और मेरे बाण आहुति थे। मेरा कोप प्रबल अग्नि था। और चतुरंगिनी सेना इंधन थी और बड़े बड़े राजा आकर पशु हुए। मैंने इसी फरसे से काट-काट के उनको बलि दे दिया। और इस प्रकार से संसार में करोड़ों समररूपी यज्ञ किये। तूने मेरा यह प्रभाव न सुना था। नहीं तो केवल ब्राह्मण के भरोसे इतना टें-टें न करता। क्या एक धनुष के तोड़ने से ऐसा घमण्ड हो गया। तू समझता है कि हमने सारे जगत को जीत लिया।

रामचन्द्र--(हाथ जोड़ के) हे मुनिराय ! विचार के बोलो। आपका क्रोध बहुत बड़ा है और हमारी चूक बहुत थोड़ी है। हमारे छूते ही तो यह पुराना धनुष टूट गया। हम घमण्ड किस बात का करेंगे। भला सुनिये तो। जो हम ब्राह्मण जान के आपका निरादर करते हैं तो फिर संसार में ऐसा कौन सुभट होगा जिससे डरकर सिर झुकावेंगे और सुनिये ऋषिराय ! देवता हो या दैत्य, राजा हो या प्रजा, चाहे हमारे बराबर हो या हमसे बलवान परन्तु जो कोई लड़ाई में हमको ललकारेगा हम अवश्य उसका सामना करेंगे। वह काल क्यों न हो। क्षत्री शरीर धारन करके जो लड़ाई में डरा वह अपने कुल का कलंक है। हम अपने कुल की कुछ प्रशंसा नहीं करते परन्तु स्वभाव कहते हैं कि रघुवंशी युद्ध में काल से भी नहीं डरते। और जो अब यह पूछें कि हमसे क्यों इतना दबते हो तो इसका कारण यह है कि विप्रवंश की यही प्रभुता है कि जो आप से डरें वह फिर किसी से न डरै।

परशुराम--(भौंचक हो और पीछे हटकर) हे राम ! यह नारायण का धनुष है। इसको लीजिये और आप इसको चढ़ाकर खींचिये तो हमारे मन का सन्देह जाता रहे।

(परशुराम धनुष देते हैं वह आप चढ़ जाता है।)

परशुराम--(अति गद्गद् होकर हाथ जोड़कर)

जय रघुवंश बनज बन भानू। गहन दनुज बन दहन कृसानू॥
जय सुर विप्र धेनु हितकारी। जय मद मोह कोह भ्रम हारी॥
विनय सील करुना गुन सागर। जयति बचन रचना अति नागर॥

सेवक सुखद सुभग अब अंगा । जय शरीर छवि कोटि अनंगा ॥
करों काह मुख एक प्रशंसा । जय महेश मन मानस हंसा ॥
अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता । छमहु छमा मंदिर दोउ भ्राता ॥

(प्रणाम करके नेपथ्य में जाते हैं)

(राजा लोग भी धीरे धीरे नेपथ्य में जाते हैं । बाजा बजाता है । फूल बरसते हैं । सब नेपथ्य में चले जाते हैं ।)

(परदा गिरता है)

आधुनिक हिंदी नाट्यांदोलन के प्रवर्तक

भारतेंदु हरिश्चंद्र का नाट्यकर्म और नाट्यपरिवेश

जानकीमंगल में आकस्मिक अभिनेता बनकर भारतेंदु ने जो अनुभव, ख्याति और संतुष्टि प्राप्त की उससे उस अठारह वर्ष की ही उम्र में हिंदी में नाटक के महत्व की ओर उनका ध्यान पूरी तरह आकृष्ट हो गया और वे हिंदी में एक सार्थक नाट्यांदोलन छेड़ने की संभावनाओं को टटोलने लगे।

इस दिशा में सबसे पहले उन्होंने हिंदी में नाटक तैयार करने पर ध्यान दिया और जानकीमंगल में अभिनय करने के बीस ही दिन बाद संस्कृत से 'रत्नावली' का अनुवाद शुरू कर दिया और फिर अपने सत्रह वर्षों के शेष जीवन में सत्रह मौलिक अनूदित नाटक तैयार किए जिनमें कुछ अधूरे भी रह गए। इन नाटकों ने हिंदी नाटकलेखन की परंपरा स्थापित करने और हिंदी रंगमंच को सार्थक आधार प्रदान करने में वहुत बड़ा योग दिया।

अभिनय और नाटकलेखन के अलावा इसी समय भारतेंदु ने नाट्यकला के प्रचार के लिये 'कविवचन सुधा' में प्रेरक टिप्पणियाँ भी प्रकाशित करना शुरू कर दिया :

'नाटक कांतोपदेश है और ये केवल लोगों की शिक्षा के हेतु किये जाते हैं। यह नाटक हजारों मनुष्यों के चित्त को एक सँग फेर देता है। नाटक का तमाशा देखनेवालों को वेश्यादिकों के तमाशे तुच्छ दिखाई पड़ते हैं और निश्चय है कि जो नाटक सर्वसाधारण में प्रचलित होते तो जुगीड़े, भगतिए और गौनहारिनों में लोगों की इतनी आसक्ति न होती। अब देखिए ऐसा आश्चर्यकाल आ गया हैं कि हम लोग फेर फेर उन्हीं रंडियों के मुख से वही-वही चीज सुनने में, उनसे वार्तालाप करने में, भाँड़ों के अश्लील और बुरे शब्दों को सुनने में और जुगीड़ा, कठपुतली आदि व्यर्थाचरण में काल खोने में लज्जा नहीं करते। पर स्वतः नाटकों में बनने में लाज लगती है। आज तक कोई

नाटक की पुस्तक या नाटकमंडली या कोई रंगशाला न बनी जिससे वास्तविक देशवृद्धि और खेल के साथ सभ्यता मिलने की संभावना थी।'

भारतेंदु ने वाराणसी से हिंदी नाट्य का बड़ा समर्थ और संपूर्ण आंदोलन शुरू किया जो बड़ी जल्दी पूरे हिंदी प्रदेश में फैलने लगा। उन्होंने न सिर्फ स्वयं कई महत्वपूर्ण नई जमीन तोड़नेवाले नाटक हिंदी में लिखे, बल्कि बीसों और भी ऐसे हिंदी नाटककार तैयार किए जिनके लिखे नाटक बार बार खेले जाकर हिंदी रंगमंच को पुष्ट करते रहे।

हिंदी रंगमंच के विकास की दृष्टि से अभिनय के क्षेत्र में भी भारतेंदु की देनों का महत्व कम नहीं। पूरे हिंदी क्षेत्र में सर्वप्रथम भारतेंदु ने ही कुलीन घराने के प्रतिष्ठित लोगों को भी रंगमंच पर शौकिया अभिनय करने का रास्ता दिखाया जिसकी काशी और कुछ दूसरे नगरों में भी बड़ी समर्थ परंपरा बनी और नाट्याभिनय की अबाध धारा चल पड़ी। स्वयं भारतेंदु जन्मजात और बड़े कुशल अभिनेता थे। उनका व्यक्तित्व बिल्कुल नाटकीय था। जिन्दादिली, उत्सवप्रियता, सामाजिक चेतना, और पैनी कवि दृष्टि ने न सिर्फ उन्हें नाटककार बनाया, बल्कि उनमें प्राकृतिक अभिनेता के मूल तत्वों को भी सँजो दिया। वे मंच पर ही नहीं, वास्तविक जीवन में भी अभिनय करते थे। पहली अप्रैल को सामूहिक परिहास उनका प्रिय व्यसन था। वे स्त्रीवेश धारण कर या फिर सारे कपड़े उतारकर भी चित्र खिंचवा सकते थे और लाटसाहब के दरबार में अपनी जगह अपने मशालची को अपना कपड़ा पहनाकर भेज सकते थे। तरह तरह की पोशाकें धारण करने और दिन में कई कई बार कपड़े बदलने की तो उन्हें लत सी पड़ गई थी जिस पर डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र ने टिप्पणी भी की थी। तरह तरह के वेष में भारतेंदु के कई चित्र अब भी उपलब्ध हैं।

एक बार भारतेंदु ने श्रांत पथिक का स्वांग भरा था। गठरी पटककर, पैर फैलाकर इस ढंग से बैठ गए थे कि दर्शकगण आनंद से लोटपोट हो गए।

भारतेंदु ने अपने नाट्यएकालाप में 'चूसा पैगंबर' का अभिनय किया :

'स्टेज सजा था, परदा खुला था। आप सिर नंगे, बनारसी जरी की कफनी पहने चौकी पर खड़े थे। आगे रंगबिरंगा शराब बोतलों में भरा था।

पं० चिंतामणी और पं० माणिकलाल जोशी शिष्य बनकर चँवर हाथ में लिये दोनों ओर खड़े थे। सैकड़ों गज कागज जोड़कर जन्मपत्री सा लपेटे स्वयं हाथ में लिये हुए थे। उसीको खोलते जाते थे और पाँचवें पैगंबर का उपदेश पढ़ते जाते थे। अपूर्व दृश्य हुआ था।'

गोपालराम गहमरी ने एक संस्मरण में लिखा है :

'काशी के बाबू हरिश्चंद्र ने बलिया में सत्य हरिश्चंद्र नाटक स्वयं हरिश्चंद्र बनकर खेला था, जिसमें हिंदी के सुलेखक बाबू राधाकृष्णदास सरीखे हिंदी सेवक और रविदत्त शुक्ल जैसे कवियों ने पार्ट लिया था। उस समय पर्दा और सीनों का जमाव नहीं था, लेकिन जो कुछ स्टेज उस समय बना था—बजाज के कपड़े तानकर जो काम भारतेंदु ने दिखाया था, उसकी महिमा योरोपियन लेडियों तक ने गाई थी। उस समय के कलक्टर साहब की मेम ने आँसुओं से भरा रूमाल निचोड़कर जब साहब की मार्फत भारतेंदुजी से आग्रह किया था कि रानी शैव्या का श्मशान में विलाप अब धीरज छुड़ा रहा है, सीन बदला जाए। तो इस पर सत्य हरिश्चंद्र बने हुए भारतेंदु ने स्वयं ओवरऐक्ट किया था और दर्शकमंडली में करुणा के मारे त्राहि त्राहि मच गई थी।'

भारतेंदु ने अपने कई नाटकों में अभिनय किया था। उन्होंने तो अपनी एक नाट्यटोली ही बना ली थी, जिसमें उनके अतिरिक्त, राधाकृष्णदास, रविदत्त शुक्ल, दामोदर शास्त्री, पं० चिंतामणी, पं० माणिकलाल जोशी और उनकी मित्रमंडली के अन्य कई सदस्य थे। दामोदर शास्त्री को उन्होंने व्यवस्था का भार सौंपा था।

भारतेंदु जितना स्वयं नाटक खेलने में रुचि लेते थे उससे अधिक दूसरों को नाटक लिखने तथा करने की प्रेरणा और प्रोत्साहन देते थे। नाट्यकर्मियों से उनका आग्रह था : 'हमारे ही नाटकों को खेलकर दूसरे उत्साहियों का उत्साह भंग न करना। वरन् बीच बीच में उन लोगों को प्रोत्साहित करने के लिये उनके बनाए नाटकों का भी अभिनय करना।' जहाँ किसी नाटक का आयोजन होता और उन्हें याद किया जाता वे प्रसन्नतापूर्वक वहाँ पहुँच जाते और यथा-संभव सहयोग आग्रह से देते। ६ दिसंबर १८७१ को इलाहाबाद में आर्य नाट्य

सभा द्वारा लाला श्रीनिवास दास के 'रणधीर प्रेममोहिनी' के अभिनय का आयोजन था। भारतेंदु वहाँ सादर आमंत्रित थे। उस नाटक में लालाजी ने प्रस्तावना नहीं रखी थी। भारतेंदु को प्रस्तावना विना नाटक खेला जाना न रुचा। उन्होंने तुरन्त उसकी एक प्रस्तावना अभिनय के लिए लिखकर तैयार कर दी। उस प्रस्तावना में भी भारतेंदु ने समाज के नवनिर्माण में नाट्य की प्रासंगिकता पर बल दिया।

भारतेंदु के जीवनकाल में ही बनारस के दशाश्वमेध घाट के पास हिंदी-भाषियों और बंगालियों ने मिलकर एक नाट्यसंस्था वनाई थी 'हिंदू नेशनल थियेटर'। भारतेंदु इसके नाट्यकर्मियों का पथप्रदर्शन और सहयोग किया करते थे। एक वार इन लोगों ने व्यावसायिक पारसी नाटक मंडलियों द्वारा खेले जानेवाले प्रहसन अंधेर नगरी का अभिनय करने का फैसला किया और परामर्श के लिये भारतेंदु के पास पहुँचे। भारतेंदु उस भोंडे नाटक की भ्रष्टभाषा, असंवद्ध प्रक्रिया और उद्देश्यहीनता से परिचित थे। अतः उन्होंने अपने सार्थक नाट्यांदोलन के उद्देश्यों के अनुकूल ही शिक्षापरकता और काव्यात्मकता के साथ एक ही दिन में नये सिरे से अँधेर नगरी लिखकर हिंदू नेशनल थियेटर को अभिनय के लिए दे दिया। इस नाट्यालेख को तैयार करते समय अपनी रंगमंचीय चेतना के तहत भारतेंदु ने उस संस्था में उपलब्ध अभिनेताओं की सुविधा के अनुसार ही पात्रयोजना की।

जीवन के अंतिम दिनों में, बीमार होने पर भी, बलिया में नवस्थापित एक नाट्य संस्था के आमंत्रण पर वहाँ चले गए। सत्य हरिश्चंद्र और नीलदेवी के अभिनय का आयोजन था। तब तक भारतेंदु वहाँ इतने लोकप्रिय हो चुके थे कि जब सूत्रधार ने उनका नाम लिया दर्शकमंडली आनंद से जयजयकार कर उठी। 'बाबूसाहब का नाम सुनकर इस जिले के मजिस्ट्रेट आदि अनेक साहिबान और मेम लोग भी थियेटर में उपस्थित थे और सत्य हरिश्चंद्र, नीलदेवी का अभिनय देखकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। वरंच राबर्ट साहब मजिस्ट्रेट ने कहा कि इनके नाटक कविशिरोमणि शेक्सपियर से भी उत्तम हैं। बलिया की सज्जन मंडली ने बाबू हरिश्चंद्रजी का प्रेम आदर सम्मान किया।'

भारतेंदु हिंदी नाट्य को समकालीन भारतीय ही नहीं अंतर्राष्ट्रीय चेतना से भी जोड़ने के लिये कितने उत्सुक थे इसका संकेत कविवचन सुधा में छपे इस विज्ञापन से लगता है :

'सब पर विदित हो कि फ्रांसीसी में जो युद्ध हुआ है और हो रहा है उसका वर्णन जो कोई नाटक की रीति से करेगा तो उसको मेरी ओर से चार सौ रुपये पारितोषिक मिलेगा।'

भारतेंदु के जीवनकाल में वाराणसी के नाट्यपरिवेश को एक नया आयाम देने का काम बंबई से आनेवाली पारसी व्यावसायिक नाट्यमंडलियों ने शुरू कर दिया था। अभी ये मंडलियाँ गीतिनाट्य (आपेरा) ही खेलती थीं जिनकी भाषा उर्दूप्रधान हुआ करती थी। उन्नीसवीं शती के आठवें दशक में ऐसी एक मंडली आई थी, जिसने पूर्वोक्त बनारस थियेटर (नाचघर) में 'शकुंतला' की प्रस्तुति की थी और उसे देखने के लिये अनेक संभ्रांत लोग जुटे थे। भारतेंदु ने उसके विषय में लिखा है :

'काशी में पारसी नाटकवालों ने नाचघर में जब शकुंतला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यंत खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक मटककर नाचने और 'पतरी कमर बल खाय' यह गाने लगा तो डॉक्टर थीबो, प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान् यह कहकर उठ आए कि अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।'

इस घटना का न सिर्फ वाराणसी के, बल्कि संपूर्ण हिंदी के नाट्यपरिवेश पर गहरा असर पड़ा। इससे एक ओर अभिजात नाट्यप्रेमियों में पारसी नाट्य के प्रति गहरी वितृष्णा का बीजारोपण हुआ तो दूसरी ओर हिंदी नाट्यलेखन में पौराणिक ऐतिहासिक चरित्रों को गरिमापूर्ण बनाने की कोशिश शुरू हुई।

कुछ अर्से बाद १० जून १८७८ को जब यह मंडली दुबारा वाराणसी आई तो अपने साथ गुलबकावली भी ले आई। काशीपत्रिका ने इस प्रदर्शन के बारे में लिखा :

'दस तारीख की रात को नाचघर में बंबई के पारसी लोगों ने गुलबकावली

और शकुंतला नाटक का खेल दिखाया। शकुंतला के तमाशे को तो एक बार हम देख चुके हैं पर पहला ही मर्तबा है कि गुलबकावली के तमाशे को देखा। अंग्रेज थोड़े ही जमा हुए, पर हिंदुस्तानी महाराजे और रईसों की भीड़ नाच-घर में इतनी कभी नहीं हुई थी। परंतु अफसोस की बात है कि हम लोगों की आशा के मुताबिक कुछ न हुआ।'

इस टिप्पणी से यह साफ जाहिर होता है कि नाट्य के संदर्भ में सामाजिक चेतना से युक्त बौद्धिक वर्ग और उच्चवर्गी रईसों राजाओं की रुचिओं में किस तरह फर्क पैदा होता जा रहा था।

धीरे धीरे व्यावसायिक नाटक मंडलियों के वाराणसी आने की बारंबारता बढ़ती गई और उनके नाट्यप्रदर्शन भी क्रमिक रूप से विकसित होते चले गए। भारतेंदु के जीवनकाल में आनेवाली इन मंडलियों में विक्टोरिया नाटक मंडली और दि पारसी एम्प्रेस नाटक मंडली भी थी। इनकी नाट्यप्रस्तुतियों का कुछ असर भारतेंदु के अंतिम नाट्यालेखों पर दिखाई पड़ता है।

भारतेंदु के समय नाट्यशाला के नाम पर वाराणसी में एकमात्र बस यही 'बनारस थियेटर' था, जहाँ शौकिया व्यावसायिक नाट्यप्रस्तुतियाँ हो सकती थीं। शौकिया नाटक अक्सर क्लबों, संभ्रांत नागरिकों के बगीचों या आवासगृह के बड़े हाल में होते थे। भारतेंदु के घर ऐसी प्रस्तुति का संकेत 'रेल का विकट खेल' का सूत्रधार देता है :

'मारिष ! सकल गुणगणालंकृत श्री बाबू हरिश्चंद्र के घर में विद्वज्जनों का यह समाज आज एकत्र हुआ है। इनको कोई ऐसी अद्‌भुत अभिनव रचना से रिझाओ कि ये सब हमारे कला कौशल के वशीभूत हो जाएँ।'

भारतेंदु ने 'श्रांत पथिक' और 'चूसा पैगंबर' का अभिनय पेनी रीडिंग क्लब में किया था।

जहाँ तक भारतेंदु की नाट्यप्रस्तुतियों की शैली का प्रश्न है, वह मुख्यतः नवागत प्रकाश-छाया और रेखा-परिप्रेक्ष्ययुक्त भ्रमोत्पादक चित्रित परदों, पखवइयों और चित्रित दृश्यों के टुकड़ोंवाली अंग्रेजी नाट्यप्रस्तुतियों पर ही आधारित थी। भारतेंदु का इनसे परिचय उनकी बंगाल यात्रा और बनारस

आनेवाली घूमंतू पेशेवर नाटयमंडलियों के माध्यम से हुआ था। कलकत्ता के बाङ्ला नाट्य से भारतेंदु की परिचिति का एक सूत्र डॉ० कालिदास नाग की एक याददाश्त से मिलता हैं जिसे डॉ० माहेश्वर ने अपनी पुस्तक में संकलित किया है :

'हाँ....हाँ... हरिश्चंद्र....राजा हरिश्चंद्र ... .यही नाम था....बहुत दिनों पूर्व....तव मैं बच्चा था और नाटक देखने की वालसुलभ उत्सुकता मुझमें भी काफी थी... उन्हीं दिनों स्टार थियेटर में लंबे, घुंघराले वालोंवाले, वनारसी अचकन तथा टोपी पहने हुए....बहुत आकर्षक व्यक्तित्व का एक वनारस का राजा प्रतिवर्ष, हफ्तों, कई बार महीनों तक नाटककारों अभिनेताओं के वीच थियेटर में मस्ती से घूमता रहता था। यहाँ के तत्कालीन बाङ्ला रंगमंच जगत से उसका घनिष्ठ संपर्क था। ठीक है....वह हिंदी का लेखक भी था।....अरे....मैंने तो उन्हें स्पष्ट देखा है। मुझे आज भी उनकी स्मृति है।'

यह कहना तो मुश्किल हैं कि डॉ० नाग के इस विवरण का कितना अंश उनकी वास्तविक स्मृति और कितना कल्पना से उपजा है, लेकिन यह सच है कि भारतेंदु ने कलकत्ता की कुछ वाङ्ला और अंग्रेजी नाट्यप्रस्तुतियों को देखा अवश्य था। वे वाङ्ला के नाट्यसाहित्य से भी प्रभावित थे और उस भाषा से नाटकों का अनुवाद किया था। वे वाङ्ला नाटकों से प्रेरणा लेकर हिंदी नाटक लिखने का आह्वान भी करते हैं :

'अपनी संपत्तिशालिनी, ज्ञानवृद्धा बड़ी बहन बंगभाषा की सहायता से हिंदी भाषा वड़ी उन्नति करें।'

भारतेंदु विलायत से आए प्रकाश-छाया और रेखा-परिप्रेक्ष्ययुक्त त्रिआयामी भ्रम उत्पन्न करनेवाली चित्रित दृश्यपटियों को सफल नाट्यप्रस्तुति के लिये अनिवार्य मानते थे। बल्कि उनकी कल्पना तो यह थी कि प्राचीन भारत में भी उनका प्रयोग होता था। भारतेंदु इस चित्रपट की व्याख्या करते हुए लिखते हैं :

'किसी चित्रपट द्वारा नदी, पर्वत, वन वा उपवन आदि की प्रतिच्छाया दिखलाने को प्रतिकृति कहते हैं। इसी का नामांतर अंतःपटी, वा चित्रपट, वा दृश्य, वा स्थान है। वर्तमान समय में जहाँ जहाँ ये दृश्य बदलते हैं, उसीको

गर्भांक कहते हैं। ये चित्रपट नाटक में अत्यंत प्रयोजनीय वस्तु हैं और इनके बिना खेल अत्यंत नीरस होता है। इससे जहाँ पात्र जैसे स्थान का अपने वाक्य में वर्णन करे वा जिस स्थान की वह कथा हो, उसका चित्र पीछे पड़ा रहना बहुत ही आवश्यक है।'

ड्रापसीन को भारतेंदु जवनिका या वाह्यपटी कहते हैं :

'कार्य अनुरोध से समस्त रंगस्थल को आवरण करने के लिये नाट्यशाला के संमुख जो चित्र प्रक्षिप्त रहता है उसका नाम जवनिका या बाह्यपटी है। इस परदे पर कोई सुंदर मनोहर नदी, पर्वत,नगर इत्यादि का दृश्य वा किसी प्रसिद्ध नाटक के किसी अंक का चित्र दिखलाना अच्छा होता है। जब रंगशाला में चित्रपट परिवर्तन का प्रयोजन होता है उस समय जवनिका गिरा दी जाती हैं।'

भारतेंदु ने नाट्यप्रस्तुति की इस व्यवस्था को नाटक के रचनाविधान से जोड़कर देखा :

'प्राचीन की अपेक्षा नवीन की परममुख्यता वारंवार दृश्यों के बदलने में है और इसी हेतु एक एक अंक में अनेक अनेक गर्भांकों की कल्पना की जाती है, क्योंकि इस समय के नाटक के खेलों के साथ विविध दृश्यों का दिखलाना भी आवश्यक समझा गया।'

लेकिन इस तरह के दृश्यपटों को भारतेंदु और उनके सहयोगी नाट्यकर्मियों के लिये बराबर तैयार कराते रहना आसान न था, क्योंकि वह खर्चीला, समयसाध्य और कुशल चित्रकारों की अपेक्षा रखनेवाला था। इसलिये वे लोग अक्सर चित्रित पर्दों की जगह दूसरे उपायों से काम चलाते थे। बलियावाले अपने अभिनय में भारतेंदु ने बजाज के कपड़े तानकर जो कमाल दिखाया था उसकी महिमा योरोपियन लेडियों तक ने गाई थी। इससे पता चलता है कि दृश्यसज्जा के मामले में भी भारतेंदु की कल्पना कितनी सर्जनात्मक थी।

भारतेंदु न सिर्फ प्रतिभावान् सहज अभिनेता थे, बल्कि नाट्यकर्मियों को अभिनय की शिक्षा देने के लिये अभिनय का विश्लेषण भी करते थे :

'कालकृत अवस्था विशेष के अनुकरण का नाम अभिनय है। जो लोग राम, युधिष्ठिरादि का रूप धारण करके कथित अवस्था का अनुकरण करते हैं उन लोगों को पात्र कहते हैं। नाटक के जो सब अंश स्त्रीगणकर्तृक प्रदर्शित होते हैं,

उनमें भाव, हाव, हेला प्रभृति यौवनसंभूत अष्टाविंशति प्रकार के अलंकारों का उन लोगों को अभ्यास नहीं करना पड़ता। किंतु पुरुषों को स्त्रीवेश धारण के समय अभ्यास द्वारा वह भाव दिखाना पड़ता है।

'शोक, हर्ष, हास, क्रोधादि के समय में पात्रों के स्वर भी घटना बढ़ना उचित हैं। जैसे स्वाभाविक स्वर बदलते हैं, वैसे ही कृत्रिम भी बदलें। 'आप ही आप' ऐसे स्वर में कहना चाहिए कि बोध हो कि धीरे धीरे कहता है। किंतु तब भी इतना उच्च हो कि श्रोतागण निष्कंटक सुन लें।

'यद्यपि परस्पर वार्ता करने में पात्रों की दृष्टि परस्पर रहेगी, किंतु बहुत से विषय पात्रों को दर्शकों की ओर देखकर कहने पड़ेंगे। इस अवसर पर अभिनय-चातुर्य यह है कि यद्यपि पात्र दर्शकों की ओर देखें, किंतु यह न बोध हो कि वह बातें वे दर्शकों से कहते हैं।

'नृत्य की भाँति रंगस्थल पर पात्रों को हस्तक भाव वा मुख, नेत्र, भ्रू के सूक्ष्मतर भाव दिखलाने की आवश्यकता नहीं, स्वरभाव और यथायोग्य स्थान पर अंगभंगी भाव ही दिखलाने चाहिए।

'यह एक साधारण नियम भी माननीय है कि फिरने वा जाने के समय जहाँ तक हो सके पात्रगण अपनी पीठ दर्शकों को बहुत कम दिखलावें। किंतु इस नियम के पालन का इतना आग्रह न करें कि जहाँ पीठ दिखलाने की आवश्यकता हो वहाँ भी न दिखलावें।'

भारतेंदु के ये अभिनय सूत्र न केवल भारतेंदुकालीन अभिनय शैली का संकेत देते हैं, बल्कि लगभग सौ वर्षों तक हिंदी रंगमंच पर अभिनय का ढाँचा इनके सहारे ही बनता रहा।

पात्रों की वेषभूषा के संबंध में भारतेंदु बहुत सजग थे। अपने कुछ नाटकों में उन्होंने चरित्रों के वेषविन्यास का बड़ा सूक्ष्म ब्योरा दिया है। वेषरचना के संबंध में भारतेंदु ने अपनी धारणा इन शब्दों में व्यक्त की है:

'अभिनय में वेष रचयिता पात्रगण का स्वभाव और अवस्था विचार करके वेश रचना कर दे। नेपथ्यकार्य सुंदर रूप से निर्वाह के हेतु एक रसज्ञ वेषविधायक की आवश्यकता रहती है।'

भारतेंदु के समय रंगमंच पर प्रकाश का साधन मशाल और गैसबत्ती थीं। कभी कभी तीव्र क्षणिक प्रकाश के लिये आतिशबाजी की महतावी का भी प्रयोग किया जाता था, जिसका जिक्र भारतेंदु ने भारतजननी में चंद्रजोत के नाम से किया है। प्रकाशसंबंधी भारतेंदु की सजगता का परिचय भारतदुर्दशा और भारतजननी में तत्संबंधी टिप्पणियों से मिलता है।

नाटक में संगीत की स्थिति के संबंध में भी भारतेंदु उतने ही जागरूक थे। वे संगीत के रसज्ञ श्रोता थे और उन्हें इसका व्यावहारिक और सैद्धांतिक ज्ञान था। संगीतसार नाम से उन्होंने एक बहुत उपयोगी निबंध लिखा था। नाट्य में संगीत की प्रासंगिकता के संदर्भ में उनका निर्देश था :

'जहाँ बहुत स्वर मिलकर कोई बाजा बजे या गान हो उसको चर्चरिका कहते हैं। जब जब एक एक विषय समाप्त होगा, जवनिका पात करके पात्रगण अन्य विषय दिखलाने को प्रस्तुत होंगे तब तब पटीक्षेप के साथ ही नेपथ्य में चर्चरिका आवश्यक हैं। क्योंकि बिना उसके अभिनय शुष्क हो जाता है। इसमें नाटक की कथा के अनुरूप गीतों का वा रागों का बजना योग्य है। जैसे सत्य हरिश्चंद्र में प्रथक अंक की समाप्ति में जो चर्चरिका बजे वह भैरवी आदि सबेरे के राग की और तीसरे अंक की समाप्ति पर जो बजै वह रात के राग की होनी चाहिए।'

नाट्यप्रस्तुति की प्रक्रिया में समकालीन दर्शकों के महत्व का भारतेंदु को पूरा अहसास था। इसीलिये उन्होंने लिखा :

'जिस समय में जैसे सहृदय जन्मग्रहण करें और देशीय रीतिनीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदयगण के अन्तःकरण की वृत्ति और सामाजिक रीतिपद्धति, इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना योग्य है।'

इस तरह न सिर्फ नाटकलेखन में भारतेंदु ने हिंदी का मार्गदर्शन किया, बल्कि हिंदी नाट्यप्रस्तुति का भी स्वरूप निर्धारित किया। इतना ही नहीं, उन्होंने नाट्यमंडलियों के संगठन और दर्शक समाज के निर्माण का भी रास्ता

दिखाया। भारतेंदु द्वारा प्रवर्तित हिंदी नाट्यांदोलन में नाटककार, नाट्यकर्मी, नाट्यमंडली और दर्शक के बीच एक अनोखा समन्वय था, जिससे उसकी उद्देश्य-परकता हमेशा कायम रहती थी।

तिजारती पारसी नाटकों के फाहिशाना अन्दाज का विरोध करनेवाले भारतेंदु के हिंदी रंगांदोलन में नाट्य के सांस्कृतिक मूल्यों की समझ, सार्थक जीवंत भाषा की पकड़, पारंपरिक नाट्य की आत्मा की पहचान, समकालीन जीवन-अनुभवों की प्रासंगिकता और नवागत पश्चिमी नाट्यप्रस्तुति के ढंग के साथ तालमेल की सक्रिय चेतना मौजूद थी।

वाराणसी से भारतेंदु द्वारा प्रवर्तित आधुनिक हिंदी का यह नाट्यांदोलन उनके जीवन में शीघ्र ही इलाहाबाद, कानपुर, दिल्ली, जबलपुर, बलिया, आरा, पटना, गया, डुमराँव आदि स्थानों से होता हुआ पूरे हिंदी क्षेत्र में फैल गया। इस नाट्यांदोलन की खास बात यह थी कि हर नाट्यमंडली के केंद्र में कोई न कोई नाटककार अवश्य था।

भारतेंदु के नाटक लेखन का सफरनामा

भारतेंदु हरिश्चंद्र चौदह पंद्रह साल की उम्र से साहित्य लिखना शुरू कर देते हैं। भारतेंदु के पिता भी साहित्यकार थे और उनके घर अक्सर साहित्यिक जमावड़ा हुआ करता था। इसीलिये भारतेंदु को बचपन से ही बड़ा समृद्ध साहित्यिक परिवेश मिला था। गहरे साहित्यिक संस्कार के तहत वह पाँच सात साल की उम्र से ही छिटफुट तुकबंदी करते रहते थे। भारतेंदु का यह प्रारंभिक साहित्यिक परिवेश पारंपरिक और मध्यकालीन था जिसके मुख्य बिंदु थे—कविता, ब्रजभाषा, धार्मिकता और रीतिकालीन शृंगारिकता। लेकिन उस समय अंग्रेजों के प्रभाव से भारत में नाटक की एक लहर भी चल पड़ी थी जिसके कारण हिंदी क्षेत्र के कुछ राजाओं और रईसों का भी ध्यान नाटक की ओर गया और आधुनिक अंग्रेजी नाट्य से कोई प्रत्यक्ष परिचय न होने के बावजूद उन्होंने संस्कृत और पारंपरिक मध्यकालीन नाट्यज्ञान के सहारे नाटक लिखने और खेलने की कोशिश की। इसी सिलसिले में रीवाँ के महाराज विश्वनाथ सिंह ने आनंद रघुनंदन नाटक और भारतेंदु के पिता गोपालचंद्र ने 'नहुष' नाटक लिखा था। भारतेंदु ने भी चौदह पंद्रह वर्ष की आयु में कुछ इसी शैली में 'प्रवास' नाम से एक नाटक लिखना शुरू किया था लेकिन उसे पूरा नहीं किया। शायद उससे वे जरा भी संतुष्ट नहीं थे इसीलिये उन्होंने अपनी रचनाओं के संदर्भ में उसका कभी उल्लेख भी नहीं किया और अब उसका कोई अंश उपलब्ध नहीं।

कलकत्ता और बंबई में नाटकों की जो धूम मची थी उसकी चर्चाओं का असर किशोर भारतेंदु की चेतना पर पड़ रहा था लेकिन सर्जनात्मक स्तर पर नाट्यांदोलन, नाट्यप्रस्तुति और नाटकलेखन की ओर उनका पूरा ध्यान तब गया जब ३ अप्रैल १८६८ को महाराज बनारस ने 'जानकीमंगल' की नाट्यप्रस्तुति का भव्य, ससमारोह आयोजन किया और उसमें भारतेंदु को भी आकस्मिक अभिनेता बनना पड़ा। इसके कुछ ही महीनों पहले 'कविवचन सुधा' का प्रकाशन शुरू करके वे गंभीरतापूर्वक साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश कर चुके थे।

जानकीमंगल में अभिनय के बं स दिनों बाद भारतेंदु ने विधिवत् नाटकलेखन का काम शुरू कर दिया। इस समय वह अपनी आयु के मात्र अठारहवें वर्ष में थे और इसी उम्र में उन्होंने यह अच्छी तरह अनुभव कर लिया था कि हिंदी के विकास के लिये उसके भांडार को विविध विषयों की पुस्तकों से भरना बहुत जरूरी है और मौलिक लेखन के लिये रुकने की जरूरत नहीं, अनुवादों से ही काम तुरंत शुरू किया जा सकता है। इसीलिये पहले उन्होंने अपने सामने दो चार नाटकों के अनुवाद का ही लक्ष्य स्थिर किया :

'हिंदी भाषा में जो सब भाँति की पुस्तकें बनने योग्य हैं, अभी बहुत कम बनी हैं, विशेष करके नाटक तो (कुंवर लक्ष्मणसिंह के शकुंतला के सिवाय) कोई भी ऐसे नहीं बने हैं जिनको पढ़ के कुछ चित्त को आनंद और इस भाषा का बल प्रगट हो। इस वास्ते मेरी ऐसी इच्छा है कि दो चार नाटकों का तर्जुमा हिंदी में हो जाए तो मेरा मनोरथ सिद्ध हो।'

यहाँ भारतेंदु ने एक तरह से स्वीकार किया है कि आधुनिक हिंदी का पहला नाटक राजा लक्ष्मणसिंह कृत 'शकुंतला' है; और भारतेंदु ने उसकी भाषिक उपलब्धियों की अपनी पहचान का भी सबूत दिया है। दरअसल इस नाटक में लक्ष्मणसिंह ने न सिर्फ हिंदी की साहित्यिक भाषा के आदर्श का नमूना प्रस्तुत किया बल्कि परिनिष्ठित हिंदी में नाटक लिखने की जमीन को पहली बार तोड़ा है। इसमें उन्होंने एक ओर तो परंपरा से विकसित हिंदी गद्य का सर्जनात्मक उपयोग किया दूसरी ओर किसी बोली (ब्रजी आदि) की शुद्धता को पकड़ने की कोशिश किए बगैर ही बोलचाल की भाषा के बिंब, उसकी लय और मिठास की अनुगूंजें पैदा की। इस तरह लक्ष्मणसिंह ने आधुनिक हिंदी में नाटक लिखने का रास्ता खोला जिस पर चलते हुए भारतेंदु की प्रतिभा ने मील के कई कई पत्थर गाड़े।

शायद विषय और उसके कारण भाषा की भी सरसता की संभावना के कारण ही भारतेंदु ने शकुंतला की तुलना में रत्नावली को अपने पहले अनुवाद (और नाट्यलेखन) के लिये चुना :

'शकुंतला के सिवाय और सब नाटकों में रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी और पढ़ने वालों को आनंद देने वाली है इस हेतु से मैंने पहिले इसी नाटक का तर्जुमा किया है और जो ईश्वरेच्छा अनुकूल है और आप गुणग्राहकों की अनुग्रह दृष्टि है तो धीरे धीरे कुछ नाटकों का तर्जुमा कर प्रकाशित होता जाएगा।'

संस्कृत नाटक के साहित्यिक अनुवाद की पूर्णता की दृष्टि से भारतेंदु ने राजा लक्ष्मणसिंह की कमियों को भी अपने अनुवाद में पूरा करने की कोशिश की। शकुंतला में राजा साहब ने मूल नाटक की प्रस्तावना को छोड़ दिया था और श्लोकों के अनुवाद भी गद्य में ही कर दिए थे। भारतेंदु ने नांदी और प्रस्तावना दोनों के अनुवाद से शुरू किया और मूल के श्लोकों का सटीकता से तुलनीय छंदों में काव्यानुवाद किया :

'इस नाटिका में मूल संस्कृत में जहाँ छंद थे वहाँ मैंने भी छंद किए हैं। यदि संस्कृत के छंदों से इसके छंदों को मिला के पढ़िये तो इसका परिश्रम प्रगट होगा।'

भारतेंदु की यह शैली आगे चलकर मुद्राराक्षस के अनुवाद तक पहुँचकर पूर्ण हुई तथा उससे प्रभावित होकर बहुत बाद में राजा लक्ष्मणसिंह ने उसी शैली में शकुंतला का आद्यंत संशोधनकर उसे फिर से प्रकाशित कराया।

नाटक के क्षेत्र में अपनी इस पहली कोशिश के वक्त भारतेंदु को अपने संस्कृतज्ञान और 'शकुंतला' की बहुप्रशंसित हिंदी के सामने अपनी हिंदी पर भी पूरा भरोसा नहीं था। इसलिये पं० शीतलाप्रसाद की सहायता ली और अपनी हिंदी के लिये विनय के साथ क्षमा-प्रार्थना की :

'मुझे इसका उल्था करने में श्री पंडित शीतलाप्रसादजी से बहुत सहायता मिली है।

'और निश्चय है कि इसका उल्था अगर कोई अच्छी हिंदी जानने वाला करता तो रचना अति उत्तम होती, इससे मुझे आप लोगों से आशा है कि इसके भूल चूक को सुधारेंगे और मुझे अपने एक दास की नाई सदा स्मरण करेंगे।'

इस भूमिका से रत्नावली नाटिका का अनुवाद पूरा हो जाने का संकेत मिलता है। लेकिन वस्तुतः वह नांदी, प्रस्तावना और विष्कंभक लेकर मात्र चार पृष्ठों तक अनूदित होकर रह गई। किन्हीं कारणों से भारतेंदु ने उसे आगे नहीं चलाया। यही घटना उनके और भी कुछ नाटकों और दूसरी रचनाओं के साथ घटित हुई। इसीलिए भारतेंदु अपने को आरंभशूर कहते हैं। यह भारतेंदु की अपनी निजी रचनाप्रक्रिया थी कि वह भूमिका से ही शुरू करते थे। शायद इसका कारण यह था कि जितना लिखते थे उतना अपनी पत्रिका में छापते भी जाते थे।

इस नाटक को यहीं अधूरा छोड़ देने का एक कारण यह भी हो सकता है कि वह अधिक आकांक्षापूर्ण बाङ्ला नाटक 'विद्यासुंदर' के अनुवाद में व्यस्त हो गए। विद्यासुंदर बंगाल के एक महाराजा बाबू जतींद्रमोहन टैगोर ने भारतचंद्र के इसी नाम के लोकप्रिय काव्य के आधार पर १८५८ ई० में लिखा था। १८६५ ई० में उन्होंने उसका दूसरा संशोधित संस्करण प्रकाशित किया और ६ जनवरी १८६६ ई० को कलकत्ता स्थित अपनी हवेली में बनाई गई रंगशाला में उसकी धूमधाम से नाट्यप्रस्तुति की। यह प्रस्तुति इतनी लोकप्रिय हुई कि लगातार नौ दस दिनों तक इसका प्रदर्शन होता रहा और पत्र पत्रिकाओं में इसकी विस्तृत समीक्षाएँ छपीं। इसका ग्रैंड रिहर्सल रीवाँ के महाराजा ने भी देखा था और उससे बहुत प्रभावित हुए थे। मात्र दो वर्ष पूर्व हुई इस प्रस्तुति की भव्यता और सफलता का चर्चा जब भारतेंदु तक पहुँचा और उस नाटक की प्रति भी उन्हें उपलब्ध हो गई तो सब छोड़कर उसके अनुवाद में लग गए क्योंकि इससे हिंदी को एक रोचक, सफल रंगमंचीय आधुनिक नाटक मिलना था।

यद्यपि विद्यासुंदर के ऊपरी ढाँचे को यतींद्रमोहन टैगोर ने पश्चिमी ढंग पर अंकों और दृश्यों में बाँटकर बनाया और उसकी प्रस्तुति भी दृश्यांकित पर्दों का इस्तेमाल करते हुए पश्चिमी ढंग पर की गई लेकिन इस नाटक की आत्मा पूरे तौर पर भारतीय और पारंपारिक है। उसमें संस्कृत नाट्य के वस्तुविन्यास के कुछ कौशलों और रसस्थितियों का सुंदर प्रयोग हुआ है। इस तरह नवागत पश्चिमी और पारंपरिक भारतीय नाट्य के कुछ तत्वों के समन्वय की कोशिश

इसमें साफ दिखाई पड़ती है। अतः भारतेंदु का इसकी ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था।

इसे भारतेंदु ने तर्जुमा, उल्था या अनुवाद न कहकर 'छाया लेकर हिंदी भाषा में निर्मित' होना बताया है। यद्यपि भारतेंदु की इस कृति में कथानक, घटनाक्रम, वस्तुविन्यास, स्थितियाँ और मूल भावादि सब बँगला संस्करण जैसे ही हैं लेकिन इसकी भाषा-संरचना और गीतिकाव्य मौलिक है; हालाँकि कहीं मुबारक जैसे दूसरे मध्यकालीन कवि की रचना का भी समावेश कर लिया गया है। वस्तुतः भारतेंदु ने मूल नाटक के संवादों का सहारा लेते हुए भी नाट्य-स्थितियों के अनुकूल हिंदी में सर्वथा मौलिक संवादों की रचना की है जिससे भाषा न कहीं अनुवादगंधी होने पाई है न ही उसमें कहीं बँगलापन झलकता है जो बंगला से हिंदी अनुवादों की एक आम बीमारी है।

भाषिक स्तर पर **विद्यासुंदर** में भारतेंदु को पहली महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हासिल हुई हैं और इस तरह नाट्यभाषा की अपनी खोज की यात्रा भी उन्होंने वस्तुतः यहीं से शुरू की है। इसमें उन्होंने राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा प्रयुक्त पारंपरिक हिंदी को पंडिताऊपन से मुक्ति दी और बोलचाल की वास्तविक हिंदी को नए सिरे से प्रतिष्ठित करने की कोशिश की। बोलचाल के स्वाभाविक लहजे, मुहावरे, वाक्यविन्यास और लय की खोज में भारतेंदु ने अपने निजी व्यक्तिगत भाषिक अनुभवों के संसार को टटोला और अपने ही परिवार के सदस्यों, खास तौर से स्त्रियों की घरेलू बातचीत को मूल स्रोत के रूप में इस्तेमाल किया। इस तरह विद्यासुंदर के नारी पात्रों के बीच संवादों में उनकी अनुगूंजें पैदा कर भारतेंदु ने सहजता और सरसता की असरदार सृष्टि की है। अपनी पारिवारिक भाषा के प्रति इस आकर्षण के कारण भारतेंदु ने कहीं कहीं उसके ऐसे शब्दों और मुहावरों का भी उपयोग कर लिया है जो परिनिष्ठित हिंदी में अप्रचलित हैं। पात्रों की स्थिति के अनुकूल भाषा रखने का एक पहला प्रयोग भारतेंदु ने चौकीदार के एक संवाद में स्वाभाविक भोजपुरी का इस्तेमाल करके किया। लेकिन कहीं कहीं राजा लक्ष्मणसिंह के अंधे अनुकरण पर अरबी फारसी के अतिप्रचलित सरल और प्रासंगिक शब्दों से भी बचने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है तो कहीं 'पारंपरिक तद्भव' शब्दों के तत्समीकरण की।

इसके लगभग चार वर्षों बाद भारतेंदु फिर नाटक की ओर मुड़े। इस बार उन्होंने 'पाखंडविडंबन' नाम से 'प्रबोधचंद्रोदय' के तीसरे अंक का अनुवाद किया। यह अनुवाद उनकी वैष्णवभक्ति की चेतना को प्रतिबिंबित करता है क्योंकि इसमें विविध धार्मिक पाखंडों का पर्दाफाश करते हुए कृष्णभक्ति की महिमा को रेखांकित किया गया है। इसमें भारतेंदु का प्रयोग भाषा के स्तर पर महज इतना हैं कि उन्होंने एक पात्र से राजस्थानी और एक दूसरे पात्र से तोतली जैसी भाषा बुलवाकर पात्रवैशिष्टच देना चाहा है।

'पाखंडविडंबन' के चार महीने बाद भारतेंदु ने अपना पहला मौलिक नाटक 'वैदिक हिंसा हिंसा न भवति' लिखा। दरअसल उद्देश्य की दृष्टि से यह पूर्ववर्ती अनुवाद का ही विस्तार है। इसमें भी 'पाखंडविडंबन' की ही तरह वैष्णवधर्म को महिमा को प्रतिष्ठित किया गया है। भारतेंदु मांसभक्षण करने और मदिरा पीने वालों के धार्मिक पाखंड को उजागर करते हैं और शास्त्रवचनों के दुरुपयोग पर व्यंग्यात्मक टिप्पणियाँ करते हैं। इसमें भारतेंदु ने विधवाविवाह के प्रसंग को भी उठाया है लेकिन उसे हलकी सी चुटकी लेकर छोड़ दिया है। इसके पक्ष विपक्ष में अपना कोई खास मत जाहिर नहीं किया। इस नाटक में अपने निजी धार्मिक विश्वासों के प्रति पक्षपात के कारण धार्मिक असहिष्णुता या संकीर्णता की झलक मिलती है लेकिन सामाजिक बुराइयों और पाखंड से संदर्भित कर देने के कारण यह उतनी नहीं अखरती।

भारतेंदु का पहला मौलिक नाटक होने के कारण इसके शिल्प को विशेष रूप से रेखांकित किए जाने की जरूरत है। भारतेंदु ने इसका पूरा ऊपरी ढाँचा संस्कृत नाटक जैसा रखा है। यह नांदी और प्रस्तावना से शुरू होकर भरत-वाक्य पर खत्म होता है। अंकों को दृश्यों में विभाजित नहीं किया गया है। लेकिन नवागत पश्चिमी नाट्यविधान के अनुसार चित्रांकित पर्दों के प्रयोग के लिये स्थाननिर्देश है और अंत में जवनिका (ड्राप कर्टेन) गिराने की भी योजना है। हालाँकि अंतिम अंक के अंत में संस्कृत नाट्य की रूढ़ि के अनुसार 'इति सर्वे निष्क्रान्ताः' की भी व्यवस्था है। पहले अंक के अंत में कोई निर्देश ही नहीं है। नाट्यशास्त्रीय पद्धति के अनुसार भारतेंदु ने इसे प्रहसन कहा है।

इससे जाहिर होता है कि भारतेंदु की रुझान संस्कृत नाट्य के रूपविधान को स्वीकार करने की है। लेकिन वह अभी उसका ऊपरी ढाँचा भर ही पकड़ पाते हैं।

पहले मौलिक नाटक के कच्चेपन के बावजूद 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में भारतेंदु ने नाट्यलेखन की दिशा में कुछ और कदम आगे बढ़ाए हैं। उनकी नाट्यभाषा समकालीनता और सार्विकता की ओर बढ़ी हैं और अनेक समसामयिक संदर्भों द्वारा हास्यसृष्टि के साथ उन्होंने नाटक के समकालीन जीवन से ज्यादा जुड़े रहने की जरूरत को पहचाना है। इसमें उन्होंने कुछ ऐसे साहसपूर्ण प्रयोग किए हैं जिसमें बहुतों ने अश्लीलता देखी और नाकभौंह चढ़ाई है। इस नाटक में भारतेंदु को सर्वाधिक सफलता चौथा अंक लिखने में मिली है। कुल मिलाकर इस नाटक का महत्व प्रारंभिक अभ्यासमात्र से ज्यादा नहीं हैं।

छह सात महीने बाद भारतेंदु ने संस्कृत से फिर एक नाटक का अनुवाद किया। यह नाटक कांचनकवि रचित व्यायोग धनंजयविजय हैं। ऐसा नहीं लगता कि इस अनुवाद के पीछे कोई चयनयोजना थी। इस नाटक की संवत १५३७ की पांडुलिपि भारतेंदु के हाथ लग गई थी। नाटक छोटा था, इस लिये उन्होंने तत्काल उसका अनुवाद कर डाला। इस अनुवाद में उनकी कोई विशेष नई उपलब्धि नहीं।

इसके साथ ही भारतेंदु के नाटक लेखन का पहला और प्रारंभिक दौर पूरा हो जाता है। इसमें उन्होंने नाटक की भाषा, वस्तुचयन और कथानक विकास तथा संस्कृत और पश्चिमी नाटकलेखन की मोटी मोटी समस्याओं से रचनात्मक परिचय प्राप्त किया। नाटक लेखन की अपनी क्षमताओं की जाँच की और उसके शिल्प तथा तकनीकों को जज्ब करके स्वतंत्रता और सहजता से उनके इस्तेमाल के लिये अपने को तैयार किया। परिणामस्वरूप धनंजय विजय के कुछ ही महीनों बाद भारतेंदु ने पूरे आत्मविश्वास के साथ अपने नितांत निजी जीवनानुभूतियों, समकालीन चेतना, सूक्ष्म निरीक्षण और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना को मुक्त सर्जनात्मक कल्पना द्वारा एक पूर्णतया मौलिक

नाटक में ढालने का निश्चय किया। यह नाटक 'प्रेमजोगिनी' है। इसमें भारतेंदु अपनी आत्मकथा, अपनी प्रेमिका मल्लिका का वृत्तांत, अपने निकट परिवेश के समकालीन व्यक्तियों पर कटाक्ष और अपने नगर वाराणसी का तत्कालीन माहौल प्रस्तुत करना चाहते थे। इसमें उनकी दृष्टि यथार्थवादी है। स्थानीय रंग तो इतना गाढ़ा है कि आंचलिकता का भ्रम होता है।

समकालीन यथार्थ और अंतरंग जीवनानुभूतियों की ताजगी ने 'प्रेमजोगिनी' के लेखन को बेहद उत्तेजनापूर्ण और स्वचालित सा बना दिया। उसकी रचना प्रक्रिया में नाट्यशिल्प के कुछ मूलभूत तत्वों पर भारतेंदु का अनायास अधिकार हो गया और कई बिंदुओं पर वे उसे कलात्मक ऊँचाइयों तक उठा सके। इसमें पश्चिमी पारंपरिक (लोक) और संस्कृत नाट्य के कुछ तत्वों का बड़े सूक्ष्म स्तर पर सर्जनात्मक समन्वय हो सका और इसमें हिंदी के एक अपने नाट्यरूप की संभावना बनती नजर आती है।

लेकिन एक अंक भर लिखकर भारतेंदु ने इसे अधूरा ही छोड़ दिया। क्यों ? कारण अनेक हो सकते हैं। इसमें जिस तरह उनकी निजी जिंदगी और उससे जुड़े उनके रिश्तेदारों, मित्रों और समाज के अन्य महत्वपूर्ण व्यक्तियों की कलई खुलकर बदरंग चेहरा सामने आ रहा था उससे चौकन्ने लोगों ने आगे न लिखने के लिये उन पर दबाव डाला हो। या फिर चार स्वतंत्र दृश्यों के पहले अंक को देखकर समसामयिक नाट्यविशेषज्ञों ने नाकभौं सिकोड़ी हो : 'यह क्या नाटक लिख रहे हो जिसके दृश्यों का एक दूसरे से कोई ताल्लुक नहीं। न कोई कथानक है न कोई रस, न कोई महान् नायक है और न सुंदर नायिका। वर्तमान समय के साधारण लोगों को लेकर भला कोई अच्छा नाटक बन सकता है ?' आदि आदि। या वह खुद उलझ गए हों कि नाटक को और आगे कैसे बढ़ाएँ। जो हो उनका आत्मविश्वास टूटा या तोड़ा गया और उन्होंने प्रेमजोगिनी को आगे लिखना बंद कर दिया।

इसी समय के आसपास राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' ने भारतेंदु को विशाखदत्त के अतिप्रसिद्ध और गंभीर नाटक 'मुद्राराक्षस' को संस्कृत से हिंदी में अनूदित करने की सलाह दी। यह अपने ढंग का एक अनूठा नाटक है और

राजकाज में लिप्त सितारे हिंद को इसका राजनीतिक तेवर विशेष रूप से प्रिय हो सकता है। लेकिन इस बात की संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि शायद उन्होंने प्रेमजोगिनी जैसे मूर्तिभंजक नाटकों से भारतेंदु को विरत करने के लिये ही इस तरह के गंभीर कार्य में लगने को प्रेरित किया हो। जो हो भारतेंदु ने उसका बड़े मनोयोग से बड़ा ही सुंदर और सटीक अनुवाद किया जिसमें बड़ी निखरी हुई हिंदी सामने आई। जिस अनुवाद प्रणाली को भारतेंदु ने विद्यासुंदर में खोजा था उसका मुद्राराक्षस में और विकास किया। भारतेंदु के नाटक अनुवाद की यह आदर्श विशेषता है कि वे शब्दानुवाद न करके मूल के भावों के अनुसार संवादों का हिंदी में ऐसा पुनर्लेखन करते हैं जो स्थितियों के अनुकूल हो साथ ही हिंदी भाषी पाठकों और दर्शकों के भी संस्कारों के अनुरूप हो। ऐसा करने में वे कभी कभी मूल से स्वतंत्र भी हो जाते हैं। लेकिन इससे अनुवाद की तेजस्विता और साहित्यिकता बनी रहती हैं और अनुवाद भाषिक स्तर पर मौलिक रचना की ताजगी पा जाता है।

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' शिक्षाविभाग से जुड़े थे और उन्होंने भारतेंदु को इस अनुवाद के लिये प्रेरित करते हुए इसे पाठचक्रम में लगाने की बात कही होगी। इसीलिये भारतेंदु इसमें अनुवादक के साथ ही व्याख्याकार की भी भूमिका ग्रहण करते हैं और जगह जगह ऐतिहासिक, पौराणिक, साहित्यिक, भाषा-वैज्ञानिक आदि संदर्भों पर व्याख्यात्मक पादटिप्पणियाँ लिखते जाते हैं। इतना ही नहीं 'मुद्राराक्षस' की ऐतिहासिकता पर विचारविमर्श के लिये भारतेंदु लंबी भूमिका और उपसंहार लिखते हैं। इस तरह भारतीय इतिहास की विवेचना करने और पाठचक्रमों की उपयुक्ततावाले नाटकों के लेखन की हिंदी की परंपरा का भी श्रीगणेश भारतेंदु ने इस नाटक से कर दिया। जयशंकरप्रसाद भारतेंदु की इस परंपरा के सबसे समर्थ उत्तराधिकारी हैं।

लेकिन इससे यह मतलब निकालना बहुत गलत होगा कि भारतेंदु ने 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद महज पाठ्यनाटक के रूप में किया है। भारतेंदु की रंगधर्मी चेतना ऐसा कभी नहीं कर सकती थी। भारतेंदु ने संस्कृत के इस अतिविशिष्ट नाटक को अपने समकालीन हिंदी रंगमंच की आवश्यकताओं के अनुरूप पूरी तौर

पर ढालने को कोशिश में कोई कोरकसर उठा न रखी। सबसे पहले भारतेंदु ने दृश्यांकित पर्दोंवाली अंग्रेजी रंगमंचीय पद्धति के अनुकूल 'मुद्राराक्षस' को उसके मूलपाठ में कोई हस्तक्षेप किये बगैर ढालने का संकल्प किया। यह एक मुश्किल काम था, कारण संस्कृत नाटक में एक ही अंक में कई कई बार नाट्य-घटना के स्थान को बदलते हैं क्योंकि प्राचीन संस्कृत रंगमंच पर स्थानगत विशिष्टता दिखाने के लिये शब्दों के अलावा और किसी रंगयुक्ति वा मंचसामग्री का उपयोग सामान्यतया नहीं किया जाता था। लेकिन भारतेंदु के समय जो नई पश्चिमी नाट्यशैली आई थी उसमें नाट्यघटना के प्रत्येक स्थान को स्पष्टता से सूचित करना आवश्यक था और उस समय उसके लिये घटनास्थलों के वृहदाकार चित्र पर्दों पर बनाकर रंगमंच पर पृष्ठभूमि के रूप में टाँगा जाता था। इसीलिये नाटकलेखक नाटक के प्रत्येक दृश्य के ऊपर 'स्थान' का उल्लेख आवश्य करता था। भारतेंदु चूंकि मूलतः अनुवाद कर रहे थे इसलिये वे मूल नाटक के अंकों को नवीन पद्धति के अनुसार दृश्यों या गर्भांकों में विभाजित नहीं कर सकते थे। तब भी उनकी प्रतिमा ने रास्ता निकाल ही लिया और उन्होंने मुद्राराक्षस के प्रत्येक अंक के अंतर्गत होनेवाले स्थान परिवर्तनों के लिये दृश्यांकित लिपटवें पर्दों की व्यवस्था कर दी।

मुद्राराक्षस के संवादों के लिये गद्य और पद्य की रचना करते समय भी भारतेंदु की दृष्टि सदा अभिनेताओं और दर्शकों की आवश्यकताओं से जुड़ी रही है। इस संदर्भ में वह कितने सजग थे इसका एक नमूना नाटक के अंत में 'भरत वाक्य' का अनुवाद न करना है। उन्होंने उन श्लोकों को मूल संस्कृत में ही रहने दिया क्योंकि आशीर्वाद के लिये संस्कृत भाषा के इस्तेमाल की परंपरा भारतेंदु के समय थी और किसी न किसी रूप में आज भी है। इसके अलावा नाटक के अंत में संस्कृतमंत्रोच्चार की ध्वनियाँ दर्शकों के मन में सांस्कृतिक गरिमा और प्राचीन परिवेश का असर भी बुन देती हैं।

इस नाटक के सफल अभिनय की आवश्यकताओं के प्रति भारतेंदु इतने सजग थे कि अपनी समकालीन नाट्यपरंपरा के अनुकूल उन्होंने नाटक के आरंभ, अंत और अंकों के बीच होनेवाले संगीत के लिये धुन आदि के अपने निर्देशों के साथ

गीतों की रचना कर डाली। इन गीतों के जरिये भारतेंदु ने इस प्राचीन नाटक को अपने समकालीन दर्शकों से जोड़ने का बड़ा ही मौलिक और महत्वपूर्ण रोचक उपाय ढूंढ़ निकाला। इन गीतों में प्रत्येक अंक की घटनाओं से निकलनेवाले निष्कर्षों को दर्शकों की समकालीन चेतना का विस्तार करने के लिये प्रेरक रूप में प्रस्तुत किया गया है। नाटक के अंत में 'पूरी अमी की कटोरिया सी चिरजीवौ सदा विकटोरिया रानी' जैसा राजभक्तिपूर्ण गीत रखना भारतेंदु पर 'सितारे हिंद' के गहराते असर को सूचित करता है। कुल मिलाकर 'मुद्राराक्षस' में विशाखदत्त के संस्कृत नाटक के मूलभावों की रक्षा करते हुए भी भारतेंदु ने भाषा और नाट्यविधान की दृष्टि से एक मौलिक हिंदी नाटक रचने की कोशिश की है जिसमें दर्शकों को समकालीन प्रासंगिकता के संदर्भसूत्रों से भी जोड़ा गया हैं।

संस्कृत के किसी मूल नाटक का आश्रय लेकर भी सर्वथा मौलिक हिंदी नाटक लिखने की जो शुरुआत भारतेंदु ने 'मुद्राराक्षस' में की, 'सत्य हरिश्चंद्र' में उसका बहुत अधिक विकास कर लिया। इसीलिये कुछ आलोचक उसे मौलिक, कुछ अनूदित और कुछ अर्धमौलिक कहते हैं। मुद्राराक्षस की ही भाँति सत्य हरिश्चंद्र की भी रचना फरमायशी है और इसका उद्देश्य भी शैक्षिक है :

'मेरे मित्र बाबू बालेश्वरप्रसाद बी० ए० ने मुझसे कहा कि आप कोई ऐसा नाटक भी लिखें जो लड़कों के पढ़ने पढ़ाने के योग्य हो, क्योंकि शृंगार रस के आपने जो नाटक लिखे हैं वे बड़े लोगों के पढ़ने पढ़ाने के हैं, लड़कों को उनसे कोई लाभ नहीं। उन्हींके इच्छानुसार मैंने यह सत्य हरिश्चंद्र नामक रूपक लिखा है। इस भारतवर्ष में उत्पन्न और इन्हीं हमलोगों के पूर्वपुरुष महाराज हरिश्चंद्र भी थे। यह समझकर इस नाटक के पढ़नेवाले कुछ भी अपना चरित्र सुधारेंगे तो कवि का परिश्रम सुफल होगा।'

इस बार आर्य क्षेमीश्वरकृत सस्कृत नाटक 'चंडकौशिक' को आधार बनाया गया। लेकिन चूंकि भारतेंदु ने उसमें बहुत फेरबदल और मौलिक उद्भावनाएँ की हैं, इसलिये उन्होंने इसे छायानुवाद भी नहीं कहा। फिर भी प्रथम संस्करण में पृष्ठ पैंसठ पर यह उल्लेखकर दिया है कि 'इसमें प्राय: सब श्लोक आर्य क्षेमीश्वर

के बनाए 'चंडकौशिक' से उद्धृत किए गए हैं'। 'सत्य हरिश्चंद्र' का पहला और दूसरा अंक मुख्यतः मौलिक हैं और तीसरा तथा चौथा अंक मुख्यतः अनुवादाश्रित। लेकिन कुल मिलाकर उद्देश्य और प्रभाव तथा भाषा की दृष्टि से पूरे नाटक की परिकल्पना में निश्चित रूप से मौलिकता है।

इस नाटक की मौलिकता और तेजस्विता का एक कारण यह भी है कि इसमें राजा हरिश्चंद्र के व्यक्तित्व में भारतेंदु ने स्वयं अपनी भी सत्यनिष्ठा और दानशीलता प्रक्षेपित कर दी है और नायक के कष्टयोग तथा परीक्षा को अपनी निजी यातना से जोड़ा है। प्रस्तावना में उसका उल्लेख भी कर दिया है :

जो गुन नृप हरिचंद मैं जगहित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचंद मैं लखहु प्रतच्छ सुजान॥

इस नाटक के प्रथम अंक में इंद्र, नारद और विश्वामित्र प्रसंग अपनी पौराणिकता के बावजूद बड़ा सांसारिक और आधुनिक लगता है जिसमें कोई सत्ताधारी व्यवस्था किसी उदीयमान तेजस्विता को प्रतिद्वंद्वी समझकर नष्ट करने का षड़यंत्र रचती है। लेकिन शुरू के दोनों अंक नाटकीयता की दृष्टि से कमजोर हैं क्योंकि इनमें कार्यव्यापार बहुत कम है और शुद्ध भाषिक स्तर पर नैतिक आदर्श संबंधी वादविवाद है जो बहुत नीरस हो गया है। जरूर यह शिक्षाप्रद बनाने की कोशिश का नतीजा है। तीसरे और चौथे में वर्णन की अधिकता है लेकिन वह परिवेश निर्माण की कोशिश है।

फिर भी इस नाटक को उन्होंने पूरी तरह से रंगमंचीय बनाने की कोशिश की है। इसमें उन्होंने पहली बार पात्रों के वेषविन्यास और परिधान के संबंध में पूर्णता के साथ पादटिप्पणियाँ दी हैं जिससे अभिनय करनेवालों को सुविधा हो। सत्य हरिश्चंद्र लोकप्रिय भी खूब हुआ--पाठकों के बीच और रंगमंच पर भी। स्वयं भारतेंदु ने इसकी कई बार नाट्यप्रस्तुति की और राजा हरिश्चंद्र की भूमिका में अभिनय किया। बल्कि प्रथम संस्करण छपने के बाद नाट्यप्रस्तुति को और भी प्रभावपूर्ण बनाने के लिये उसके श्मशानवाले दृश्य में पिशाचों और डाकिनियों के अभिनयपूर्ण नाच गाने का एक टुकड़ा और जोड़ दिया।

सन् १८७६ ई० नाटक लेखन की दृष्टि से भारतेंदु का सबसे ज्यादा उपजाऊ

वर्ष है। इस साल उन्होंने अपने पाँच नाटक प्रकाशित किए जिनमें सत्यहरिश्चंद्र, चंद्रावली और भारतदुर्दशा जैसे नाटक भी हैं। दर असल मुद्राराक्षस के लेखन के साथ भारतेंदु के नाटकों का जो नया दौर शुरू हुआ उसमें उन्होंने नाटक-लेखन को ज्यादा गंभीरता से अपनाया। इसी समय वह हिंदी में नाट्यलेखन और नाट्यसंबंधी अन्य बातों को लेकर एक प्रबंध भी लिखना चाहते थे लेकिन वास्तव में उसे पाँच छह वर्ष बाद ही लिख पाए। 'मुद्राराक्षस' के लेखन और प्रकाशन की प्रक्रिया १८७५-७७ ई० तक चलती रही। इस बीच भारतेंदु ने उपर्युक्त नाटकों के अलावा 'कर्पूरमंजरी' और 'विषस्य विषमौषधम्' भी लिखकर प्रकाशित कर दिया। 'कर्पूरमंजरी' का प्रकाशन 'सत्यहरिश्चंद्र' से पहले हुआ।

'कर्पूरमंजरी' राजशेखर के इसी नाम के प्राकृत नाटक (सट्टक) का अनुवाद है। भारतेंदु का यह चुनाव सुचिंतित है लेकिन इसके कारणों का कोई सूत्र उन्होंने नहीं दिया। तब कुछ अनुमान किए जा सकते हैं। 'कर्पूरमंजरी' संभवतः एकमात्र ऐसा विलक्षण नाटक है जो संपूर्णतः प्राकृत में लिखा गया है। सामान्य प्रचलन से बहुत दूर जा पड़ी संस्कृत भाषा को नाटक के माध्यम के रूप में अस्वीकार कर जनभाषा के ज्यादा करीब पड़नेवाली प्राकृत को ग्रहण करने की यह पहली साहसपूर्ण कोशिश है। इसके अलावा इस नाटक की एक और बड़ी खासियत है जिसकी ओर राजशेखर ने इशारा किया है। राजशेखर के समय वसंतोत्सव पर अश्लीलता से भरे फूहड़ नाटक खेलने की एक परंपरा चली आ रही थी। कवि ने उसे स्थानापन्न करने के लिये वसंत के कामोत्सव के मूड की पूरी तरह से रक्षा करते हुए भी साहित्यिक संस्कारों से भरपूर 'कर्पूरमंजरी' की रचना की।

अपनी निजी प्रकृति के अनुकूल भारतेंदु को शृंगार और हास्य का यह सुमेल तो अच्छा लगा ही, इसमें उन्होंने तत्कालीन नाट्यदर्शकों की भी रुचि की अनुकूलता देखकर नाटक और रंगमंच की लोकप्रियता की संभावना ढूंढ़ी। इसमें मधुर गद्य और काव्यरचना के लिये भी प्रभूत अवसर थे। अतः राजशेखर की कर्पूरमंजरी को भारतेंदु ने अपने युग के रुचिसंस्कार के अनुसार नया रूप-यौवन दिया।

मूल नाटक के पूरे ढाँचे को अक्षुण्ण रखते हुए भी उसके मौलिक पुनर्लेखन की जितनी कोशिशें भारतेंदु ने की उनमें 'कर्पूरमंजरी' अन्यतम है। पूरी रचना को उन्होंने एक नया ही भावसंस्कार दे दिया। इसीलिये अविकल अनुवाद के पैमानों से नापनेवाले समीक्षकों को उसमें जगह जगह कमियाँ नजर आती रहीं।

इस रचना में भारतेंदु की नाट्यभाषा अपने पूरे निखार के विल्कुल करीब पहुँच गई है और अब किसी भी श्रेष्ठ नाटक की सृष्टि के लिये पूरी तरह तैयार है। संवाद के लिये गद्य और पद्य तथा गीतों का प्रयोग करने में यद्यपि अधिकांशतः मूल का ही अनुसरण किया गया है तथापि अपने विवेकानुसार भारतेंदु ने मूल के पद्य के स्थान पर गद्य और गद्य के स्थान पर पद्य भी रखा है। पद्य में कहीं मूल से अनुवाद किया हैं तो कहीं प्रसंगानुसार स्वतंत्र रूप से रचे अपने मौलिक या दूसरे कवियों की उक्तियों का प्रयोग किया है। गद्य संवादों में भी भारतेंदु ने अपनी पूर्वपरिचित स्वतंत्रता और मौलिकता बरती है। इसमें भारतेंदु ने अपने समकालीन नैतिक मानदंडों के अनुकूल मूल की खुली हुई उद्दाम शृंगारिकता को कम करने की काफी कोशिश की है। लेकिन उसका फागुनी अंदाज पूरे तौर पर कायम है क्योंकि भारतेंदु ने भी तो इसे चैत में ही लिखा है। लक्ष्य करने काबिल इसकी एक और बात यह है कि भरतवाक्य के सिवा भारतेंदु ने भाषाभंगी या और किसी तरीके से कोई समकालीन अनुगूंज का संदर्भ नहीं पैदा किया है। इस नाटक का पूरा माहौल मध्यकालीन बन गया है। भारतेंदु इस नाटक में अपने मौलिक अंशदान के प्रति पूर्णतया सजग थे इसीलिये इसकी प्रस्तावना में राजशेखर के साथ अपने को भी सहलेखक के रूप में उद्घोषित कराया है।

'सत्य हरिश्चंद्र' के बाद भारतेंदु के महत्वपूर्ण नाटक 'चंद्रावली' की रचना हुई। मार्मिक गहरी अनुभूतियों के आवेग और अभ्यास से प्राप्त नाट्यविन्यास की सहजता के साथ तन्मय समाधि की स्थिति में रचित होने के कारण इस नाटक में संपूर्ण कलात्मक अनुभव की कांति सर्वाधिक है। इस में जहाँ वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के प्रति भारतेंदु की अनुभूतिगत गहरी निष्ठा और धार्मिक संस्कारों विश्वासों की अभिव्यक्ति हुई है वहीं मल्लिका के प्रति प्रगाढ़ प्रेम की

प्रच्छन्न किंतु मार्मिक व्यंजना भी। संस्कृत नाटकलेखन की शैली को आत्मसात् करने की लंबे अरसे से चल रही भारतेंदु की कोशिशों की यह चरम परिणति है और भारतेंदु के मध्यकालीन सौंदर्यबोध की संपूर्ण काव्यात्मक नाट्यसृष्टि। इसीलिये मैं भारतेंदु की नाटकमाला के मनकों के बीच सुमेरुरूप स्थित 'चंद्रावली' को 'उज्ज्वल नीलमणि' कहता हूँ।

'चंद्रावली' की रचना कृष्णभक्त वैष्णवों के महापर्व कृष्ण जन्माष्टमी के पवित्र उत्सवमय परिवेश में हुई जब भारतेंदु का घर परिवार और पूरा मुहल्ला भी कृष्णमय हो रहा था। ऐसे सुगंधित वातावरण में जहाँ भारतेंदु के हृदय में भक्ति की ऊँची तरंगें उठ रहीं थीं वहीं लोगों के धार्मिक पाखंड और आचार्यों के तत्वबोध के अज्ञान से पीड़ा भी हो रही थी। ऐसी स्थिति में अपनी निजी अनुभूतियों के साथ मधुरा भक्ति की मूल अवधारणा को संपूर्णता के साथ प्रस्तुत करने के लिये भारतेंदु ने 'चंद्रावली' लिखने का संकल्प लिया। लेकिन जब चंद्रावली के समर्पित प्रेम का आख्यान भारतेंदु के मनः आकाश में उदित हुआ तो उनकी पैनी संवेदनशीलता की सूक्ष्मातिसूक्ष्म तरंगों के सहारे उनकी प्रियतमा मल्लिका की मूर्ति भी वहाँ कौंध गई और उसकी ऊर्जा ने भारतेंदु की प्रतिभा को तन्मय सर्जन की दिशा में गतिशील कर दिया। इस तरह फ्रायड की भाषा में लौकिक का अलौकिक प्रेम में उदात्तीकरण हो गया और प्रेमजोगिनी की प्रेमजोगिनी चंद्रावली के पास चली आयी।

लेकिन किसी कोने से देखने पर भी यह राधाकृष्ण के स्मरण का रीतिकालीन बहाना नहीं लगता। पूरे तौर पर यह अष्टछापी भक्ति की मधुर रस से लबालब रचना है। बल्कि कहीं कहीं भक्ति की शास्त्रीयता के आग्रह ने रचनात्मक अन्विति को तोड़ा भी है।

दोतिहाई गद्य और एक तिहाई पद्य में लिखा यह नाटक पूरे तौर से काव्यात्मक है क्योंकि इसमें भावावेगों की प्रधानता है और रोजमर्रे की बातचीत जैसे अंश न्यून हैं। इसकी काव्यात्मकता मध्यकालीन भावपरिवेश रचती हैं क्योंकि न सिर्फ इसमें ब्रजभाषा के प्रयोग की अतिशयता है बल्कि उसकी काव्यरूढ़ियों और अनेक कवियों की उक्तियों की गहरी अनुगूंजें भी हैं।

इसीके समानांतर चंद्रावली का चाक्षुष दृश्यविधान और बिंब संरचना है। नीले पीले, लाल हरे रंग और रंगतों की राशियाँ, उनका स्थानगत वितरण, पृष्ठभूमि के रूप में पहाड़, नदी, पेड़ आदि का प्रयोग और कृष्ण तथा गोपियों की मुखाकृतियाँ कांगड़ा और किशनगढ़ के मनोरम चित्रों का सौंदर्यबोध मन में साकार कर देती हैं। पारंपरिक नृत्य गतियों और संगीत का योग इस अनुभव को प्रगाढ़तर करता है।

मध्यकालीन परंपरा की एक और परत चंद्रावली में दिखाई पड़ती है और वह यह कि इसमें जो कविता की अधिकता है वह हिंदी के मध्यकालीन नाट्य-रूपों से इसे जोड़ती है।

लेकिन ये सारी विशेषताएँ अनायास सर्जन के अवचेतन स्तर से स्वतः उद्भूत हुई हैं। भारतेंदु की सायास कोशिशें तो संस्कृत नाटक के रूपविधान के मूलतत्व को पूरी तरह जज्ब कर सहजता से नाटक लिखने की क्षमता अर्जित करने की थी। और, यह सच है कि इस दिशा में भारतेंदु की सफलता चंद्रावली में अपनी पराकाष्ठा पर है। लेकिन फिर वह युग की सीमाओं से कठोरतापूर्वक परिसीमित भी हैं। चंद्रावली लिखने के पहले भारतेंदु अपने अनुवादों और मौलिक लेखनों द्वारा लगातार संस्कृत नाटक के शिल्प को पचाने की कोशिश करते रहे हैं लेकिन चंद्रावली में उन्होंने खास तौर से रत्नावली, विद्यासुंदर और कर्पूरमंजरी के अनुभवों का फायदा उठाया है।

संस्कृत नाट्यरूप 'नाटिका' के मूल तत्वों और लक्षणों का उपयोग चंद्रावली में बड़ी सहजता से हो सका है क्योंकि यह आख्यान इसके बहुत उपयुक्त है। नाटिका का ध्यान रखे बिना भी यह नाटक बहुत कुछ ऐसा ही बनता। धीर ललित नायक, द्वितीया कनिष्ठा नायिका, ज्येष्ठा नायिका का अनुशासन और अंत में स्वीकृति, नारी पात्रों की प्रधानता, गायन संगीत का आधिक्य और शृंगार रस (यहाँ मधुर रस) की प्रधानता आदि सारी बातें चंद्रावली के मूल आख्यान में स्वाभाविक रूप से समाहित हैं और इनके लिये नाटककार को कोई खास जोड़तोड़ नहीं करना पड़ा है।

लेकिन संस्कृत नाटकों में एक अंक के भीतर जो स्थानगत सातत्य, तरलता और स्वच्छंदता है उसे युग की सीमाओं को तोड़कर भारतेंदु नहीं पकड़ सके।

प्रस्तावना, विष्कंभक, अंकावतार के साथ चार अंकों की योजना ऊपर से तो बिल्कुल संस्कृत नाटकों जैसी लगती है लेकिन जरा सा बारीकी में जाने पर तुरंत पता लग जाता हैं कि दरअसल छद्म वेष में ये नवागत पश्चिमी नाटक के सात दृश्य मात्र हैं और इनके लिये परदों की अलग अलग व्यवस्था हैं। कार्यावस्था, अर्थप्रकृति, संधि और संध्यंग की जटिल अबूझ व्यवस्था को भारतेंदु ने व्यर्थ पकड़ने की कोई कोशिश नहीं की, बस अपने विशिष्ट कथानक को सहजता से बढ़ने दिया। चंद्रावली में इन सब जटिलताओं का आरोप करना उसके कलानुभव के मार्ग से जबरदस्ती भटकाना है।

लेकिन इस नाटक में भारतेंदु को सबसे बड़ी सफलता संस्कृत नाट्य की आत्मा 'रसविधान' को पकड़ने में मिली हैं। चंद्रावली जैसा पारंपरिक रस-विन्यास शायद ही किसी दूसरे हिंदी नाटक में देखने को मिले। मुख्यतः व्यभिचारियों के क्रमिक प्रयोग द्वारा भारतेंदु ने रस को उसकी प्रगाढ़तम स्थिति तक पहुँचा दिया है। और खूबी यह कि उनका रसनियोजन भाषाधर्मी उतना नहीं जितना नाट्यधर्मी। दरअसल तात्विक नाट्यधर्मिता ही वह असल चीज है जिसे परंपरा से पकड़कर भारतेंदु की प्रतिभा ने कलात्मक रूपांतरण दिया है। और इस नाट्यधर्मिता का केंद्र है अभिनय। अभिनय की दृष्टि से चंद्रावली बेजोड़ है। इसमें आहार्य, आंगिक, वाचिक और सात्विक, अभिनय के चारों अंगों के प्रयोग की भरपूर गुंजाइश है। लेकिन प्रधानता सात्विक अभिनय की है जो तन्मयतापूर्ण रसोद्रेक करनेवाला सर्वोत्कृष्ट अभिनय है। भारतेंदु ने चंद्रावली की अभिनेत्री को सर्जनात्मकता की समाधि अवस्था तक पहुँचा दिया है। इस दिशा में भारतेंदु का सबसे बड़ा कमाल नवागत पश्चिमी अभिनयशैली के मुकाबले नाट्यशास्त्रीय अभिनय की जीवित परंपरा को साहस के साथ प्रतिष्ठित करना है।

भारतेंदु ने इस नाटक को अपने समकालीन परिवेश में प्रचुरता से उपलब्ध, किंतु एक विशिष्ट प्रेक्षकवर्ग को संबोधित किया है। यह प्रेक्षकवर्ग साहित्यकारों और साहित्य-संगीत-कलामर्मज्ञ रसिकों, जिनमें वैष्णवभक्त भी शामिल हैं, का है। उनके सौंदर्यबोध को चंद्रावली पूरी तरह तृप्त करती है। बल्कि

नाटक के रूप में तो ऐसा रसास्वादन उनके लिये अभूतपूर्व होता। अफसोस की बात है कि भारतेंदु अपने जीवनकाल में इसकी नाट्यप्रस्तुति नहीं करा सके।

अब इस नाटक की कुछ ऐसी कमजोरियों का जिक्र भी कर लिया जाए जो इसके गुणों को देखते हुए दरअसल नजरअंदाज कर दिये जाने के काबिल हैं। मसलन इस नाटक का कथानक बड़ा कमजोर हैं, भावों की विविधता नहीं है, लंबे लंबे वर्णन हैं, दुहराव है, समकालीन जीवन के साथ कोई जुड़ाव नहीं है आदि आदि। कई कमियाँ तो महज नाट्य की किसी रूढ़ अवधारणा के कारण नजर आती हैं। कुछ कमियों को प्रस्तुति के लिये थोड़े से संपादन के जरिये दूर किया जा सकता है, और कुछ कमियाँ तो रहेंगी ही। पूर्णता आने से आगे सर्जन करना मुश्किल हो जाता।

आज जब हम अपनी जड़ें खोजते हुए, अपनी पहचान कायम करने के लिये, अपने पारंपरिक नाट्य के साथ फिर से नजदीकी रिश्ता जोड़ने की हरचंद कोशिश कर रहे हैं तब चंद्रावली और भी प्रासंगिक हो उठती है। एक ऐसे जमाने में जब भारत के समृद्ध मध्यकालीन पारंपरिक नाट्य को नकारते हुए उसे दबाकर पश्चिमी नाट्य अपना पूरा आधिपत्य कायम कर रहा था और भारतीय उससे बुरी तरह अभिभूत थे तब कुछ दूर तक नई पश्चिमी नाट्यशैली को स्वीकारते हुए भी भारतेंदु ने चंद्रावली में पारंपरिक नाट्य की पुरअसर प्रतिष्ठा की। यूनानी, अरबी, फारसी किस्सों के साथ भारतीय पौराणिक कथानकों के अजीबोगरीब गड्डमड्ड और बनावटी उर्दू से मुंह के बिगड़ते जायके को चंद्रावली के रसास्वाद से मधुर बनाया। योरोपीय नाट्य पर्दों के भारतीय आँखों में गड़नेवाले चित्रों की जगह चंद्रावली द्वारा भारतेंदु ने आँखों को ठंडक पहुँचानेवाले रंगों और रेखाओं का चाक्षुष सौंदर्यबोध दिया। न सिर्फ भारतेंदु की रचनाओं में बल्कि हिंदी के गिने चुने नाटकों की श्रेणी में भी चंद्रावली का स्थान अक्षुण्ण बना रहेगा।

चंद्रावली के मध्यकालीन सौंदर्यानुभव में गहरे डूबने की भारतेंदु में प्रतिक्रिया हुई और समकालीन जीवनबोध को नाटक में बांधने की कोशिश उन्होंने एक बार फिर की। इस बार उन्होंने पत्रकारिता और नाटक के समन्वय का एक

अद्‌भुत प्रयोग किया। बड़ौदा के राजा मल्हारराव के स्कैंडल और अंग्रेजों द्वारा गद्दी से उतारे जाने की खबर उन दिनों अखबार की सुर्खियों में थी। खुद भारतेंदु ने उस दिन कविवचन सुधा को 'सोने के और लाल टाइप' में छापा था। उसी घटना पर एक अखबारी 'राइट अप' या संपादकीय तैयार करने की जरूरत थी जिसे भारतेंदु ने हास्य व्यंग्य की चाशनी में डुबोये छोटे से एक-पात्री नाटक का रूप दे दिया : विषस्य विषमौषधम्—जहर की दवा जहर है।

इसके लिये भारतेंदु ने संस्कृत रूपकों में से 'भाण' का रूपबंध चुना। भारतेंदु का यह चुनाव संस्कृत 'भाण' के विषय की मूल भावना की सही पकड़ का सबूत हैं। भाण में वेश्याओं से संबंधित समाज के महत्वपूर्ण व्यक्तियों के स्कैंडलों का वर्णन चटखारे ले लेकर किया जाता था जो खुले रूप में घोर शृंगारिक हुआ करता था। अतः मल्हारराव की कामुकता से संबंधित स्कैंडल और तनज्जुली को प्रस्तुत करने के लिये रूपक के इस प्रकार का चुनाव सटीक था। मूल विषय और चपल, चलताऊ, जानदार भाषा की दृष्टि से भारतेंदु ने भाण का सफल अनुकरण किया है लेकिन उसके कथानक-प्रवाह, रंगमंचीय तकनीकों और रसविन्यास को वह जरा भी नहीं पकड़ पाए। इसलिये प्रस्तुति की दृष्टि से वह वेहद भाषिक, नीरस और उबाऊ हो गया है।

विषस्य विषमौषधम् तक पहुँचकर भारतेंदु ने यह अनुभव किया कि सम-कालीन जीवन को संस्कृत नाटकों के पुराने रूपबंध में बांधने की कोशिश शायद सही नहीं है। मल्हारराववाले नाटक के आकाशभाषित की रूढ़ि उस रूपबंध में बुरी तरह खटक रही थी। इसलिये भारतेंदु ने संस्कृत नाटकों के रूपसंबंधी बंधनों को एकबारगी तोड़कर बिल्कुल स्वतंत्र रूप से एकपात्री संवाद का छोटा नाटक तैयार किया—-पांचवें (चूसा) पैगंबर। इसे उन्होंने स्वयं प्रस्तुत किया और उसमें चूसा पैगंबर का अभिनय भी किया। निश्चित रूप से यह हिंदी का प्रथम सफल एकालापी छोटा नाटक है। इसमें चूसा पैगंबर का अकेले प्रवचन करना स्वाभाविकता की दृष्टि से तो उचित है ही, उसकी भाषा में इतनी रोचकता, रवानगी, हास्यव्यंग्यात्मकता और चुटीलापन है कि नाटकीय दृष्टि से भी वह सफल है।

'चूसा पैगंबर' उस संक्रांतियुग की विरोधाभासी सांस्कृतिक चेतना का एक लघु लेकिन मूल्यवान् दस्तावेज है। इसमें भारतेंदु ने अंग्रेजी-सभ्यता-संस्कृति के साथ भारतीय पारंपरिकता की टकराहटों के कुछ बिंदुओं को बड़ी स्पष्टता से रेखांकित किया है। उस वक्त अंग्रेजी सभ्यता की नकल के रूप में बहुत सारी नई बातें आई थीं जिनमें से अधिकांश आज हमारे जीवन में इतनी घुलमिल गई हैं कि उसके विदेशीपन की ओर हमारा ध्यान तक नहीं जाता। लेकिन तब वे बहुत बड़ी अजूबा थीं और हिंदी क्षेत्र को जनता में बहुत कुतूहल जगा रही थीं। भारतेंदु ने इस 'एक अभिनेता' नाटक में ऐसी बातों की जैसे एक छोटी सी सूची ही पेश कर दी है। इसमें भारतेंदु ने अपनी सिद्ध व्यंग्यात्मक शैली में जहाँ एक ओर नई दृष्टि के परिप्रेक्ष्य से भारतीयों के रूढ़िवादी कुसंस्कारों और दुष्प्रवृत्तियों को आड़े हाथों लिया है वहीं अंग्रेजी संस्कृति की ऐसी तमाम बातों पर भी पैने कटाक्ष किए हैं जो नाटककार की भारतीय दृष्टि से उचित नहीं। लेकिन इसमें अंग्रेजों की अच्छी बातों का भी उल्लेख हैं। भारतेंदु ने इसमें अंग्रेजों के दर्प, पक्षपात, गलत अर्थ, राज, और शिक्षा नीतियों पर भी व्यंग्य है। अंग्रेजों के आर्थिक शोषण पर एक व्यंग्य :

'देखो मेरा नाम चूसा हैं क्योंकि मैं सबका पापरूपी पैसा चूस लेता हूँ क्योंकि खुदा ने फरमाया है कि मेरे बन्दे पैसों के बहकाने से गुनाह करते हैं अगर उनके पास पैसा न रहे तो खुद गुनाह न करें इससे तू सबसे पहिले इनका पैसा चूस ले।'

अंग्रेजों के संदर्भ में भारतेंदु के व्यक्तित्व की एक खास बात इस छोटे नाटक में भी देखने को मिलती है कि उनके सामने उनके प्रभुत्व और तमाम गुणों को स्वीकारते हुए भी वह अपने को कहीं बौना नहीं होने देते और अपने पूरें कद में अंग्रेजों की असलियत बेवाक सामने रखते हैं। एक नमूना :

'मुझको पृथ्वी पर आए बहुत दिन हुए पर अब तक भगवान् का हुक्म नहीं था इससे मैं कुछ नहीं बोला, बोलना क्या, बल्कि जानवर बना घात लगाए फिरता था और मेरा नाम लोगों ने हूश, बंदर, लंका की सेना और म्लेच्छ रखा था। पर मैं अब उन्हीं लोगों का गुरु हूँ क्योंकि ईश्वर की आज्ञा ऐसी है। इससे लोगो, ईमान लाओ।'

इसमें समकालीन परिस्थितियों के संदर्भ में भारतेंदु के लेखन की एक और खासियत सामने आती है : भारतेंदु के चारों ओर पहुँचवाले कुछ ऐसे बौने लोगों का जमावड़ा था जो अंग्रेज प्रभुओं के सामने चुगली और मुखबिरी करते हुए यही सुझाया करते थे कि भारतेंदु के कौन से काम और रचनाएँ अंग्रेजों के खिलाफ हैं। ऐसे लोगों को चक्कर में डालने के लिये भारतेंदु ने सूत्रों को उलझाकर अपनी शैली लच्छेदार बना ली और निंदा प्रशंसा को गड्डमड्ड कर दिया (पारंपरिक व्याज नहीं)।

भारतेंदु की समकालीन राष्ट्रचेतना और संस्कृत नाटकशैली से स्वतंत्रता की सर्वोत्तम सर्जनात्मक अभिव्यक्ति 'भारतदुर्दशा' में हुई। भारतेंदु की अपनी ही परिभाषा के अनुसार इसका उद्देश्य देशवत्सलता है। यह अमूर्त भावनाओं या अवधारणाओं के मानवीकरण का प्रतीकात्मक नाटक है जिसके पात्र भारत, भारतदुर्दैव, भारतभाग्य, निर्लज्जता, आशा, सत्यानाश, रोग, आलस्य, मदिरा, अंधकार, डिसलायल्टी आदि हैं। कुछ वास्तविक मनुष्य भी इसमें हैं। पूरे देश (विशेष रूप से हिंदी प्रदेश) की तत्कालीन स्थिति को प्रस्तुत करने का उपाय सोचते हुए भारतेंदु प्रतीकात्मकता पर ही पहुँच पाए। शायद इसका कारण प्रबोधचंद्रोदय का उनका अनुभव भी था। इस नाटक का ढाँचा उन्होंने जान बूझकर कहीं से लेने की कोशिश नहीं की और अपनी सहज चेतना के सहारे ही इसे लिखा। चूंकि यह नाटक विशाल जनता को संबोधित था इसलिये इसका ढाँचा अनायास जनसमुदाय में प्रचलित पारंपरिक नाट्य (स्वांग, इंदरसभा आदि) बन गया। इसके नाचगानों की शैली और भाषा में भी अद्भुत लोक-परकता है। लेकिन इसके नाम के साथ 'नाट्यरासक वा लास्यरूपक' लिखकर अनेक लोगों को भ्रम में डाल दिया कि यह भी संस्कृत शैली का ही नाटक है। दरअसल इसे लिख लेने के बाद जब भारतेंदु ने इसमें नाचगाने की प्रधानता और वह भी लोकपरक पाई तो नाट्यरासक कह दिया। हालाँकि इस शास्त्रीय रूप के और भी कई लक्षण हैं। भारतेंदु तो किसी एक दो मुख्य लक्षणों के सहारे ही नामकरण कर देते थे, सभी लक्षणों के मिलने की कोई परवाह नहीं करते थे। संशय की स्थिति को मद्देनजर रखते हुए उन्होंने एक और विकल्प इंगित कर

दिया 'लास्यरूपक' (शायद बँले का उनका अपना अनुवाद हैं)। जो हो, इस नाटक का रूपबंध भारतेंदु द्वारा अपने परिवेश में देखी गई नाट्यप्रस्तुतियों के असर और विषय के आग्रह से ही बना है और उसमें संपूर्ण एकान्विति तथा मौलिकता है।

इस नाटक की विषयवस्तु राष्ट्र की दुरवस्था और संकटपूर्ण स्थिति का गहरा अहसास कराना है और भारतभाग्य की आत्महत्या से नाटक का अंत करके भारतेंदु ने इसमें पूरी कलात्मक सफलता पाई है। वस्तुतः भारतेंदु की सर्जनात्मक उपलब्धियों का मूल उत्स उनकी सहज प्रातिभ प्रेरणा [इंट्यूशन] है और उसे मुक्त अभिव्यक्ति का जितना अवसर मिलता है उतनी ही उत्कृष्ट उनकी कलासृष्टि होती है।

भारतदुर्दशा के बाद भारतेंदु के नाटकलेखन में चार पाँच वर्षों का एक लंबा अंतराल आता है। इस बीच उन्होंने बाङ्ला से अनूदित एक नाटक का आद्यंत संशोधन भर किया। इस संदर्भ में 'कविवचन सुधा' में प्रकाशित स्वयं भारतेंदु की टिप्पणी पर्याप्त है :

'भारतजननी रूपक जो गत नवंबर १८७८ ई० से छपता है उसके ऊपर मेरा नाम लिखा है। वह मेरा बनाया नहीं है। बंग भाषा में 'भारतमाता' नामक जो रूपक है वह उसीका अनुवाद है जो मेरे एक मित्र का किया है जिन्होंने अपना नाम प्रकाश करने को मना किया है। मैंने उसको शोधा है और जो अंश कुछ भी अयोग्य था उसको बदल दिया है। कविकीर्ति का लोप नहीं करना। अतएव यह प्रकाश करना मुझ पर आवश्यक हुआ।'

भारतेंदु के नाटकलेखन में आए इस लंबे अंतराल का एक कारण यह भी हो सकता है कि उन्होंने अपने संपूर्ण नाटकलेखन पर पुनर्विचार करना शुरू कर दिया था और अब किसी बिलकुल नए रास्ते की तलाश कर रहे थे। अपने निरंतर समृद्ध होते जा रहे नाट्यपरिवेश से भारतेंदु अब और ज्यादा परिचित हुए। कलकत्ता और बंबई के नाट्यजगत में जो कुछ हो रहा था उसकी ज्यादा ब्योरेवार जानकारी उन्हें मिली। पारसी व्यावसायिक नाटक मंडलियों के दौरे हिंदी प्रदेशों में अब दूर दूर तक और जल्दी जल्दी होने लगे थे और भारतेंदु को

निकट से उनका अध्ययन करने का मौका मिल रहा था। दूसरी ओर स्वयं भारतेंदु ने हिंदी का जो जागरूक नाट्यांदोलन छेड़ रखा था उसके तहत होने-वाली नाट्यप्रस्तुतियों की खामियों को दूर कर उसे और ज्यादा लोकप्रिय बनाने के तरीकों को भी वह ढूंढ़ रहे थे। ऐसे माहौल में भारतेंदु का ध्यान शेक्सपीयर की ओर गया।

उस समय अंग्रेजी की उच्च शिक्षा पाये भारतीयों के बीच शेक्सपीयर की बड़ी महिमा थी। बनारस के अंग्रेज अधिकारियों और अध्यापकों तथा अंग्रेजी शिक्षित अपने मित्रों की मंडली में जब कभी भारतेंदु होते तो शेक्सपीयर की चर्चा अक्सर छिड़ जाती। उधर कलकत्ता और बंबई में शेक्सपीयर के मूल अंग्रेजी और बाङ्ला, गुजराती और मराठी में रूपांतरित नाट्यप्रस्तुतियों की धूम मची हुई थी। इधर भी अभी अभी भारतेंदु के मित्र लाला श्रीनिवासदास ने रोमियो जूलिएट के मूल भावों को लेकर हिंदी में 'रणधीर प्रेममोहिनी' नाटक लिखा था जिसकी खूब चर्चा और प्रशंसा हुई। ६ दिसंबर १८७९ को इलाहाबाद की आर्य नाट्यसभा ने उसकी मंचप्रस्तुति की जिसमें भारतेंदु भी शामिल थे और उसके लिये उन्होंने एक प्रस्तावना भी लिख डाली थी।

इसके तुरत बाद भारतेंदु ने मरचेंट आव वेनिस के अनुवाद में हाथ लगाया। शेक्सपीयर के इसी नाटक का चुनाव बिल्कुल आकस्मिक नहीं है। व्यापारीवर्ग के मुख्य चरित्रों से युक्त इस कृति को चुनने के पीछे भारतेंदु की एक धारणा तो यह थी कि अति निकट के परिचय के जीवन में विदेशी चरित्रों को ढालने में विशेष सुविधा हो सकती है। दूसरे आर्थिक उलटफेर से स्थितियों में आने-वाले फर्क, कर्ज, प्रणय, गहरी मित्रता का आदर्श आदि कुछ ऐसे प्रसंग इस नाटक में हैं जिनका संबंध खुद भारतेंदु की निजी जिंदगी से है। मित्रता के आदर्श को मुख्यता देकर भारतेंदु ने अपने इस रूपांतर का नामकरण किया 'दुर्लभ-बंधु'।

भारतेंदु ने शेक्सपीयर का अविकल अनुवाद न करके उसका भारतीय रूपांतर करने का निश्चय किया। भारतेंदु के युग में इस तरह के रूपांतर की प्रवृत्ति दूसरी भारतीय भाषाओं में भी थी। हिंदी उर्दू के व्यावसायिक रंग-

मंच के लिये तो इस दिशा में बहुत काम हो रहा था। लेकिन इन कामों में शेक्सपीयर की आत्मा, उसका काव्यात्मक उत्कर्ष पूरी तरह नष्ट हो जाता था। रह जाता था उसके ऊपरी ढाँचे का खँडहर, जिसके मलबे से नये नाटक की बदशक्ल इमारत बनती थी। साहित्यिक हिंदी में इस दिशा में जो पहला महत्त्वपूर्ण काम रणधीर प्रेममोहिनी में लाला श्रीनिवासदास ने किया था उसमें भी रोमियो ऐंड जूलियेट के ढाँचे का सूक्ष्म सारांश भर ही शेष था। ये सारी चीजें भारतेंदु को मंजूर नहीं थीं। वह तो शेक्सपीयर को भारतीय परिवेश में उसके साहित्यिक उत्कर्ष की पूरी पहचान के साथ उपस्थित करना चाहते थे। इसलिये उन्होंने अविकल रूपांतर का लक्ष्य सामने रखा।

लेकिन शेक्सपीयर की अपनी पहचान बनाये रखकर उसे किसी दूसरी भाषा में ढालना बेहद मुश्किल काम है। पिछले सौ वर्षों की लगातार कोशिशों के बावजूद उसकी अब तक बस चार पाँच ऐसी कृतियाँ हिंदी मे आ पाईं जिन्हें साहित्यिक दृष्टि से कुछ सफल कहा जा सकता है। तब अपनी सारी प्रतिभा और भाषा की अपनी पूरी पकड़ के बावजूद इसमें भारतेंदु को वैसी सफलता नहीं मिल रहा थी जिससे उन्हें कुछ संतोष मिल सके। (हालाँकि अंग्रेजी भाषा को हिंदी में ढालने में भारतेंदु को जितनी सफलता उस वक्त मिल गयी वह बहुतों के लिये आज भी स्पृहणीय है।) लिहाजा दुर्लभ-बंधु से भारतेंदु का मन उचट गया और उन्होंने उसे अधूरा ही छोड़ दिया।

इसके बाद थोड़े समय तक भारतेंदु ने फिर कोई नाटक नहीं लिखा। अब वह पारसी और महाराष्ट्री व्यावसायिक नाटक मंडलियों की प्रस्तुतियों, उनकी लोकप्रियता और तिजारती सफलता को गौर से देख रहे थे। उसकी बनावटी भाषा, निरर्थक विषय और फूहड़ वस्तुविधान का तिरस्कार करते हुए भी वह नये रंगमंच की जरूरतों और भारतीय रंगपरंपरा के साथ उसकी शैली की अन्विति में छिपी शक्ति को पहचान रहे थे। वह अपने द्वारा प्रवर्तित सार्थक, सोद्देश्य किंतु शौकिया नाट्य आंदोलन की कमजोर प्रस्तुतियों के फीके असर, उसकी आर्थिक आधारहीनता, अनियमित, बहुत कम प्रदर्शनों और बेहद सीमित लोकप्रियता से उन्हें असंतोष था। अतः अगर वह इस नतीजे पर पहुँचे कि

अब ऐसे नाटक लिखे जाएँ जो भाषा, विषयवस्तु और कलात्मकता में तो पूरी तरह सार्थक हों लेकिन अपनी रूपगत बनावट और दर्शकों को आकर्षित करने-वाले तत्वों के नियोजन की दृष्टि से व्यावसायिक नाटकमंडलियों को स्वीकार्य हों अथवा उन्हें लेकर समानांतर हिंदी की भी व्यावसायिक नाटकमंडलियाँ स्थापित की जा सकें, तो इसमें अजब क्या है। 'नीलदेवी' नाटक भारतेंदु ने इसी तरह की सोच के तहत लिखा है।

इसमें उन्होंने नांदी और अपनी अत्यंत प्रिय 'प्रस्तावना' के सूत्रधार, नटी, पारिपार्श्विक को बेमुरौव्वत त्याग दिया। और उनकी जगह चमकीले लिबासों में सजी धजी तीन खूबसूरत अप्सराएँ ले आए जो हिमालय की खुशनुमा फिजा का माहौल बुनते पर्दे की पृष्ठभूमि पर झिंझौटी जल्द तिताला में गाती नाचती हुई भारत की क्षत्राणी की वीरता और प्रेम का बखान करके नाटक की मूल विषयवस्तु स्थापित करती हैं। बहुत छोटे छोटे दस दृश्योंवाले इस नाटक में अठारह गीत हैं और कोई दृश्य गीतविहीन नहीं है। दरअसल प्रत्येक दृश्य का भावात्मक उत्कर्ष गीत में ही निहित है और गद्य संवाद वहाँ तक पहुँचने या कभी वहाँ से उतरने की सीढ़ी का काम करते हैं। इन गीतों में काफी विविधता है और वे तत्कालीन लोकरुचियों को संतुष्ट करनेवाली हैं। दरअसल उस वक्त व्यावसायिक नाटक मंडलियों में ऐसे ही नाटकों का बोलवाला था जिसमें गद्यसंवाद नाममात्र के होते थे। भारतेंदु अपने वर्गीकरण के अनुसार इन्हें नवीन भेद के अंतर्गत गीतिरूपक (आपेरा) कहते हैं। उसमें भी 'नीलदेवी' वियोगांत गीतिरूपक है।

व्यावसायिक नाट्यप्रस्तुतियों के समकालीन दर्शकों की रुचियों को संतुष्ट करनेवाले कुछ और तत्त्वों का नियोजन नीलदेवी में कुशलतापूर्वक किया गया है। हास्य के लिये चौथे दृश्य में मठियारी, चपरगट्टू खाँ और पीकदान अली का प्रसंग रचा गया है जो मूल कथावस्तु से जुड़ा है। उर्दू के शौकीन दर्शकों को अपनी प्रिय भाषा काफी निखरी शक्ल में मिलती है। अभिनय अतिशयता को पसंद करनेवाले दर्शकों के लिये पागल की भूमिका है। जश्न और महफिल के दृश्य हैं तो कारुणिक और त्रासद दृश्य भी हैं। भावों की विविधता कहीं ऊब

पैदा नहीं होने देती। व्यावसायिक सफलता के लिये आवश्यक प्रवाह और गति को बरावर कायम रखा गया है।

साहित्यिक तथा व्यावसायिक दोनों ही दृष्टियों से इस नाटक की सबसे बड़ी कमज़ोरी हिंदूवादी आदर्श तथा मनोवृत्ति के संदर्भ में एक हिंदू राजा और मुसलमान अमीर की लड़ाई को प्रस्तुत करना है। लेकिन युगीन परिवेश में यह शायद भारतेंदु की असाध्य समझसीमा थी। तब भी कुल मिलाकर पारसी व्यावसायिक नाटकमंडलियों के मिजाज की काफी महीन पकड़ नीलदेवी में मौजूद है। नीलदेवी में सुरुचि, सोद्देश्यता, कलान्विति और हिंदी की प्रकृति की पूरी रक्षा, बल्कि उनके सर्जनात्मक नियोजन के साथ व्यावसायिक रंगविधान को जज्ब करने में, इस तरह का उनका पहला नाटक होने पर भी, जितनी बड़ी सफ़लता भारतेंदु को मिली है उससे लगता है कि अगर वे थोड़ा और जी जाते और इस दिशा में कुछ वर्षों तक लगातार काम करने का उन्हें मौका मिलता तो आज हिंदी रंगमंच और नाटकलेखन का इतिहास बिलकुल दूसरा ही होता।

नीलदेवी की रचना के आसपास ही भारतेंदु ने कालजयी लोकप्रियतावाला अपना प्रसिद्ध नाटक 'अंधेरनगरी' लिखा। इसे उन्होंने बनारस की नाट्य-संस्था 'द इंडियन नेशनल थियेटर' के लिये लिखा था। उससे वह स्वयं भी जुड़े हुए थे और जब उसके नाट्यकर्मियों ने पारसी और महाराष्ट्री व्यावसायिक नाटकमंडलियों की तरह अंधेरनगरी जैसा कोई फूहड़ भँडैतीनुमा प्रहसन खेलने की इच्छा उनके सामने प्रकट की तो उस कथानक को थोड़ा साहित्यिक संस्कार भी दे देने के लिये उसे फिर से लिख डालने का निश्चय उन्होंने किया। मल्लिका ने उन्हें अंधेरनगरी संबंधी बंगाल में प्रचलित एक लोककथा सुनाई। बस उसीको मुख्य आधार बनाकर एक ही बैठक में भारतेंदु ने अपना अंधेर-नगरी नाटक लिख डाला। चूंकि भारतेंदु ने इसे बहुत जल्दी में लिखा था इसलिये मूलस्रोत के कथानक में सूली देने के लिये मोटे आदमी की जरूरत की तार्किकता पर बिना ध्यान दिये ही उसे फाँसी में बदल दिया। लेकिन भारतेंदु ने इस नाटक को चाहे जितनी जल्दबाजी में लिखा हो इसमें उनकी प्रतिभा

अपना कमाल दिखाए बिना न रह सकी। जहाँ भी जरा सा मौका हाथ लगा समकालीन संदर्भों में हास्य व्यंग्य की चुटकियों की फुलझड़ियाँ उन्होंने जमकर छोड़ी हैं। उनके व्यंग्यबाणों का लक्ष्य जहाँ ब्रिटिश शासन है वहीं भारतीय समाज की विसंगतियाँ भी हैं। लेकिन इस नाटक की सबसे बड़ी शक्ति इसकी संपूर्ण बनावट से व्यंजित होनेवाला प्रतीकार्थ या समासोक्ति है जो अन्यायपूर्ण व्यवस्था में प्रजा की यातना को सूचित करता है। यह प्रतीकार्थ इस कथानक में सहज तो है लेकिन बिलकुल आकस्मिक नहीं क्योंकि इसे लिखते हुए भारतेंदु की चेतना को ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा उनके प्रति किए गए अन्याय बराबर कुरेदते रहे हैं। इसीलिये अंधेरनगरी का वास्तविक लक्ष्य अंग्रेज शासकों की अंधेरगर्दी है और यह एक मायने में भारतदुर्दशा का ही प्रहसनात्मक किंतु अधिक तीखा रूपांतरण है। चुगलीखोरों और अधिकारियों के कोप से बचने के लिये अंधेरनगरी के संबंध में यह कहानी फैला दी गई कि इसे बिहार के किसी बिगड़े राजा को सुधारने के लिये लिखा गया है।

भारतेंदु का मौलिक नाट्यबोध, उनकी काव्यप्रतिभा और भाषा की ताजगी सबसे ज्यादा बाजारवाले और राजा की न्यायसभा के दृश्यों में दिखाई पड़ती है। ये दोनों दृश्य कार्टूनों की तरह की अतिरंजना को लिये हुए सहज रूप से चुटीले हैं।

कुछ तात्कालिक संदर्भों के बावजूद अंधेरनगरी एक सदाबहार नाटक है और उसे जब भी खेला जाए उसमें समकालीन अनुगूंजें पैदा होंगी क्योंकि चाहे जैसी व्यवस्था हो उसमें अंधेरगर्दी के तत्व अक्सर मौजूद रहते हैं। आज की जनतांत्रिक व्यवस्था में इसमें एक नई ऊर्जा आ गई है। सत्ता का विरोध करने के लिये जनता इसे अपनी आवाज के रूप में बखूब इस्तेमाल कर सकती हैं। इसका निर्विशिष्ट लचीला नाट्यविधान निर्देशकों को अनेक तरह के प्रयोगों और अनेक शैलियों के इस्तेमाल का अवसर मुहैया करता है।

इसके पहले कि मैं भारतेंदु के आखिरी नाटक के बारे में कुछ बयान करूं, उनके दो ऐसे संकल्पित नाटकों का उल्लेख आवश्यक है जो उन्होंने कभी नहीं लिखे। इनमें से एक तो 'नवमल्लिका' है जिसके पात्रों की सूची भारतेंदु ने

तैयार कर ली थी और मोटे अक्षरों में उसका शीर्षक एक कापी के कवर पर लिखकर हाथों में लिये एक शानदार फोटो भी बनवाई थी। प्रेमजोगिनी के अधूरी रह जाने पर शायद वे अपनी प्रेयसी मल्लिका को नये सिरे से नाटक में प्रस्तुत करना चाहते थे। दूसरे नाटक की योजना अपने मित्र गोस्वामी राधाचरण को पत्र द्वारा उन्होंने बतायी :

"महात्माओं ने जो पद बनाए हैं उनमें प्रिया प्रीतम का जो संवाद है वा अन्य सखियों की उक्ति है उन्हीं सबों के यथास्थान नियोजन से एक रूपक बनै तो वहुत ही चमत्कार हो, अर्थात् ाटक की और जितनी बातें हैं, अमुक आया गया इत्यादि अंक दृश्य इत्यादि मात्र तो अपनी सृष्टि रहै किंतु संवाद-मात्र उन्हीं प्रवीणों के पदों की योजना से हों। जहाँ कहीं पूरा पद रहै वहाँ पूरा कहीं आधा चौथाई एक टुकड़ा जितना अवश्य हो उतना भाग उनमें से लिया जाय। वह भी यों हो कि एक वेर पदों में से चुनकर अत्यंत चोखे चोखे जो हों वा जिनमें कोई एक टुकड़ा भी अपूर्व हो वह चिह्नित रहैं फिर यथास्थान उनकी नियोजना हो। ऐसा ही गीतगोविंद से एक संस्कृत में हो, बहुत ही उत्तम ग्रंथ होगा। आप परिश्रम करें तो हो मैं तो ऐसा निर्बल हो गया हूँ कि बरसों में सुधरूँगा।"

भारतेंदु का आखिरी नाटक 'सतीप्रताप' है जिसे पूरा करने के पहले स्वयं उनके जीवननाटक का आखिरी पर्दा गिर गया। यह अधूरा नाटक भारतेंदु की निरंतर विकासमान रंगचेतना और रंगमंचमाध्यम की बढ़ती हुई पकड़ को सूचित करनेवाला एक दस्तावेज है। सतीप्रताप नीलदेवी के साथ शुरू हुई। भारतेंदु की नई कोशिशों की अगली मंजिल है। सतीप्रताप की शुरुआत का पहला दृश्य बिलकुल नीलदेवी जैसा ही है जिससे मालूम होता है कि भारतेंदु ने व्यावसायिक प्रस्तुतियों के आरंभदृश्य (ओपेनिंग सीन) की रूढ़ि को स्वीकार कर लिया था। लेकिन सतीप्रताप में अनुभव के आधार पर किया गया विकास दिखाई पड़ता है। इसमें तीन अप्सराएँ अलग अलग तीन राग रागिनियों में एक एक कर तीन गीत गाती हैं जब कि नीलदेवी में तीनों सामूहिक रूप से दो गाने गाती हैं।

रंगमंच माध्यम की बढ़ती हुई पहचान के और भी सबूत 'सतीप्रताप' में हैं:

इसमें उन्होंने संगीत को थियेटर के अधिक अनुकूल बनाया है और हिंदी का एक नया नाम 'रंगगीति' दिया है। संगीत से दृश्य का वातावरण बनाने में उन्होंने और भी कुशलता दिखाई है। इसमें चित्रित पर्दों के साथ ही चित्रित दृश्य टुकड़ों (कट सीन्स) का भी क्रियात्मक उपयोग किया गया है। लेकिन रंगमंचीय सूझ बूझ का सबसे अच्छा निदर्शन हमें दूसरे दृश्य में मिलता हैं जिसमें मंच दो भागों में हो गया है; एक ओर लतामंडप में सत्यवान है और दूसरी ओर से सावित्री सखियों के साथ प्रवेश करती है। सत्यवान का स्वागत और सखियों का गायन नृत्य तथा वार्तालाप मंच के स्थानिक वितरण को रंगसक्रियता से भरपूर कर देता है। इसके अलावा गीतिनाट्य होने पर भी सतीप्रताप में गानों और संवादों की स्थितियाँ तथा संतुलन अधिक नाटकीय है।

सतीप्रताप में भारतेंदु की दृष्टि शुद्ध साहित्यिक और रंगमंचीय है। इसमें वह एक पौराणिक कहानी को काव्यात्मकता के साथ सफल रंगमंचीय रूप देने के अलावा और कोई काम नहीं करना चाहते थे। इसीलिये वह आयासपूर्वक कलात्मक अन्विति लाने के प्रति विशेष सचेत थे। हिंदी के साहित्यिक नाटक-लेखन और समकालीन व्यावसायिक रंगमंच के संबंधों को एक नई दिशा देने की कोशिशों के संदर्भ मे नीलदेवी के साथ उठाया गया भारतेंदु का कदम उनकी असामयिक मृत्यु के कारण अधूरे 'सतीप्रताप' में 'न ययौ न तस्थौ' की स्थिति में ही रह गया।

भारतेंदु ने अपना नाटकलेखन यह देखकर शुरू किया था कि हिंदी में राजा लक्ष्मणसिंह के शकुंतला के सिवा और दूसरा कोई नाटक नहीं जो हिंदी की सामर्थ्य को प्रकट करे और साहित्यिक आनंद भी दे सके। उस समय वह बहुत छोटी उपलब्धि, महज दो चार नाटकों के अनुवाद से ही संतुष्ट होने को तैयार थे। लेकिन तब से अपने और अपने सहयोगियों द्वारा लगातार सत्रह वर्षों तक हिंदी में लगभग सौ नाटकों के तैयार हो जाने पर भी उन्हें पूरा संतोष नहीं हुआ और अपने जीवन के अंत तक पहुँचते पहुँचते उन्होंने लक्ष्य किया :

'यद्यपि हिंदी भाषा में दस बीस नाटक बन गए हैं, किंतु हम यही कहेंगे कि अभी इस भाषा में नाटकों का बहुत अभाव है। आशा है कि काल की क्रमोन्नति के साथ ग्रंथ भी बनते जायेंगे।

भारतेंदु की नाट्यसृष्टि : एक झलक

१. सत्यहरिश्चंद्र

[संक्षिप्तीकृत]

२. एक और काशी : ऐबी गैबी*

[प्रेमयोगिनी का एक दृश्य]

३. यम का न्याय*

[वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति का अंतिम दृश्य]

४. भारतदुर्दैव*

[भारतदुर्दशा के तीसरे अंक का एक अंश और पाँचवाँ अंक]

५. अंधेर नगरी

६. श्रीचंद्रावली नाटिका

[प्रस्तावना, विष्कंभक और वर्षावियोग विपत्ति नामक तीसरा अंक]

७. सतीप्रताप

---

* ये शीर्षक संपादक द्वारा लगाये गये हैं।

संक्षिप्ती कृत

सत्यहरिश्चन्द्र

१

मङ्गलाचरण

दोहा

सत्यासक्त दयाल द्विज प्रिय अघहर सुखकंद।
जनहित कमलातजन जय शिव नृप कवि हरिचन्द[1] ॥ १ ॥

(नान्दी के पीछे सूत्रधार[2] आता है)

सूत्रधार—अहा ! आज की सन्ध्या भी धन्य है कि इतने गुणज्ञ और रसिक लोग एकत्र हैं और सबकी इच्छा है कि हिन्दी भाषा का कोई नवीन नाटक देखें। धन्य हैं विद्या का प्रकाश कि जहाँ के लोग नाटक किस चिड़िया का नाम है इतना भी नहीं जानते थे, भला वहाँ अब लोगों की इच्छा इधर प्रवृत्त तो हुई। परन्तु हा ! शोच की बात हैं कि जो बड़े-बड़े लोग हैं और जिनके किए कुछ हो सकता है वे ऐसी अन्धपरम्परा में फँसे हैं और ऐसे बेपरवाह और अभिमानी हैं कि सच्चे गुणियों की कहीं पूछ ही नहीं है।

केवल उन्हीं की चाह और उन्हीं की बात है जिन्हें झूठी खैर-खाही दिखाना वा लम्बा चौड़ा गाल बजाना आता है। (कुछ सोच-

---

१. यह श्लेष शिवजी, राजा हरिश्चन्द्र, श्रीकृष्ण, चन्द्रमा और कवि पाँच का वर्णन करता है।

२. सूत्रधार हरे व नीले रंग का साटन का कामदार जाँघिया पहने, उसके आगे पटुके की तरह कमरबन्द के दोनों किनारे नीचे ऊपर लटकते हुए, गले में चुस्त सामने बुताम की मिरजई, ऊपर माला वगैरह और और सब गहने, सिर पर टिपारा, पैर में घुंघरू, हाथ में छड़ी, सिर पर मुकुट।

कर) क्या हुआ, ढंग पर चला जायगा तो यों भी बहुत कुछ हो रहेगा। काल बड़ा बली है, धीरे धीरे सब आप ही कर देगा। पर भला आज इन लोगों को लीला कौन सी दिखाऊँ (सोचकर) अच्छा उनसे भी पूछ लें ? ऐसे कौतुकों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की बुद्धि विशेष लड़ती है। (नेपथ्य की ओर देखकर) मोहना ! अपनी भाभी को जरा इधर तो भेजना।

(नेपथ्य में से, 'मैं तो आप ही आती थी' कहती हुई नटी[1] आती है)

नटी–मैं तो आप ही आती थी। वह एक मनिहारिन आ गई थी, उसी के बखेड़े में लग गई, नहीं तो अब तक कभी की आ चुकी होती। कहिये, आज जो लीला करनी हो वह पहिले ही से जानी रहे तो मैं और सभी से कह के सावधान कर दूँ।

सूत्र०–आज का नाटक तो हमने तुम्हारी ही प्रसन्नता पर छोड़ दिया है।

नटी–हम लोगों को तो सत्यहरिश्चन्द्र आजकल अच्छी तरह याद है और उसका खेल भी सब छोटे बड़े को मँज रहा है।

सूत्र०–ठीक है, यही हो। भला इससे अच्छा और कौन नाटक होगा। एक तो इन लोगों ने उसे अभी देखा नहीं है, दूसरे आख्यान भी करुणापूर्ण राजा हरिश्चन्द्र का है, तीसरे उसका कवि भी हम लोगों का एकमात्र जीवन है।

नटी–(लम्बी साँस लेकर) हा ! प्यारे हरिश्चन्द्र का संसार ने कुछ भी गुण रूप न समझा। क्या हुआ "कहैंगे सबै ही नैन नीर भरि भरि पाछे प्यारे हरिचन्द की कहानी रहि जायगी"।

सूत्र०–इसमें क्या सन्देह है। काशी के पण्डितों ही ने कहा है—

सब सज्जन के मान को कारन इक हरिचन्द।
जिमि सुभाव दिन रैन को, कारन नित हरि चन्द[2] ॥ २ ॥

---

१. महाराष्ट्री वेष, कमर पर पेटा कसे व मर्दाना कपड़ा पहिने पर जेवर सब जनाने।

२. विद्वज्जनप्रतिष्ठाकारणमेको हरिश्चन्द्रः।
स्वभावगत्या दिनरात्र्योर्वा हरिश्चन्द्र ॥

और फिर उनके मित्र पण्डित शीतलाप्रसादजी ने इस नाटक के नायक से उनकी समता भी की है। इससे उनके बनाये नाटकों में भी सत्यहरिश्चंद्र ही आज खेलने को जी चाहता है।

नटी–कैसी समता, मैं भी सुनूँ।

सूत्र०–जो गुन नृप हरिचन्द मैं, जग हित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचन्द मैं, लखहु प्रतच्छ सुजान[1]॥ ३॥

(नेपथ्य में)

अरे!

यहाँ सत्य भय एक के, काँपत सब सुरलोक।
यह दूजो हरिचन्द को, करन इन्द्र उर सोक॥

सूत्र०–(सुनकर और नेपथ्य की ओर देखकर) यह देखो! हम लोगों को बात करते देर न हुई कि मोहना इन्द्र बनकर आ पहुँचा, तो अब चलो हम लोग भी तैयार हों।

(दोनों जाते हैं)

२

स्थान-काशी के घाट किनारे की सड़क

(महाराज हरिश्चन्द्र घूमते हुए दिखाई पड़ते हैं)

ह०–देखो काशी भी पहुँच गये। अहा! धन्य है काशी! भगवति वाराणसि! तुम्हें अनेक प्रणाम हैं। अहा! काशी की कैसी अनुपम शोभा है।

चारहु आश्रम बर्न बसै मनि कंचन धाम अकासविभासिका।
सोभा नहिं कहि जाय कछू विधिनैं रची मानो पुरीन की नासिका॥
आपु बसैं 'गिरिधारन जू' तट देवनदी बर बारि बिलासिका।
पुन्य प्रकासिका पाप विनासिका हीय हुलासिका सोहत कासिका॥

---

१. "श्रूयन्ते ये हरिश्चन्द्रे जगदह्लादिनो गुणाः।
दृश्यन्ते ते हरिश्चन्द्रे चन्द्रवत्प्रियदर्शने॥"

देखो ! जैसा ईश्वर ने यह सुन्दर अँगूठी के नगीने सा नगर बनाया है वैसी ही नदी भी इसके लिये दी है । धन्य गंगे !

नव उज्ज्वल जलधार, हार हीरक सी सोहति ।
बिच बिच छहरति बूंद मध्य मुक्ता मनि पोहति ॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत ।
जिमि नर गन मन विविध मनोरथ करत मिटावत ॥
कहूँ बँधे नव घाट उच्च गिरिवर सम सोहत ।
कहुँ छतरी, कहुँ मढ़ी, बढ़ी मन मोहत जोहत ॥
धवल धाम चहुँ ओर फरहरत धुजा पताका ।
घहरत घंटा धुनि धमकत धौंसा करि साका ॥
मधुरी नौवत वजत, कहूँ नारी नर गावत ।
वेद पढ़त कहुँ द्विज, कहुँ जोगी ध्यान लगावत ॥
दीठि जहीं जहँ जात रहत तितही ठहराई ।
गंगा छवि हरिचन्द कछू बरनी नहिं जाई ॥

अब चलें अपना शरीर वेचकर दक्षिणा देने का उपाय सोचें । हा ! ऋण भी कैसी बुरी वस्तु है, इस लोक में वही मनुष्य कृतार्थ है जिसने ऋण चुका देने को कभी क्रोधी और क्रूर लहनदार की लाल लाल आँखें नहीं देखी हैं । (आगे चलकर) अरे क्या बाजार में आ गए, अच्छा, (सिर पर तृण रखकर) अरे सुनो भाई सेठ, साहूकार, महाजन, दूकानदारों, हम किसी कारण से अपने को पाँच हजार मोहर पर बेचते हैं, किसी को लेना हो तो लो (इसी तरह कहता हुआ इधर उधर फिरता है) देखो कोई दिन वह था कि इसी मनुष्य विक्रय को अनुचित जानकर हम दूसरों को दंड देते थे पर आज वही कर्म हम आप करते हैं । दैव बली है । ('अरे सुनो भाई' इत्यादि कहता हुआ इधर उधर फिरता है । ऊपर देखकर) क्या कहा ? "क्यों तुम ऐसा दुष्कर कर्म करते हो ?" आर्य यह मत पूछो, यह सब कर्म की गति है । (ऊपर देखकर) क्या कहा ? "तुम क्या कर सकते हो, क्या समझते हो" और किस तरह रहोगे ?' इसका क्या पूछना है । स्वामी जो कहेगा वह

करेंगे; समझते सब कुछ हैं; पर इस अवसर पर समझना कुछ काम नहीं आता और जैसे स्वामी रखेगा वैसे रहेंगे। जब अपने को बेच ही दिया तब इसका क्या विचार है। (ऊपर देखकर) क्या कहा ? "कुछ दाम कम करो।" आर्य हम लोग तो क्षत्रिय हैं। हम दो बात कहाँ से जानें। जो कुछ ठीक था कह दिया।

(नेपथ्य में से)

आर्यपुत्र ऐसे समय में हमको छोड़े जाते हो। तुम दास होगे तो मैं स्वाधीन रहके क्या करूँगी ? स्त्री को अर्धांगिनी कहते हैं, इससे पहिले बायाँ अंग बेच लो तब दाहिना अंग बेचो।

ह०–(सुनकर बड़े शोक से) हाँ ! रानी की यह दशा इन आँखों से कैसे देखी जायगी ?

(सड़क पर शैव्या और बालक फिरते हुए दिखाई पड़ते हैं)

शैं०–कोई महात्मा कृपा करके हमको मोल ले तो बड़ा उपकार हो।

बा०–अमको भी कोई मोल ले तो बला उपकाल ओ।

शैं०–(आँखों में आँसू भरकर) पुत्र ! चन्द्र कुल भूषण महाराज वीरसेन का नाती और सूर्य कुल की शोभा महाराज हरिश्चंद्र का पुत्र होकर तू क्यों ऐसे कातर वचन कहता है ! मैं अभी जीती हूँ ! (रोती है)।

बा०–(माँ का अञ्चल पकड़ के) माँ ! तुमको कोई मोल लेगा तो अमको वी मोल लेगा। आँ आँ माँ लोती काए को औ (कुछ रोना सा मुंह बना के शैव्या का आँचल पकड़कर झूलने लगता है)।

शैं०–(आँसू पोंछकर) मेरे भाग्य से पूछ।

ह०–अहह ! भाग्य ! यह भी तुम्हें देखना था ? हा ! अयोध्या की प्रजा रोती रह गई, हम उनको कुछ धीरज भी न दे आए। उनकी अब कौन गति होगी। हा ! यह नहीं कि राज छूटने पर भी छुटकारा हो। अब यह देखना पड़ा। हृदय ! तुम इस चक्रवर्ती की सेवायोग्य बालक और स्त्री को बिकता देखकर टुकड़े टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ? (बारंबार लंबी साँस लेकर आँसू बहाते हैं)।

शै०–('कोई महात्मा' इत्यादि कहती हुई ऊपर देखकर) "क्या कहा ? क्या क्या करोगी ?" "पर पुरुष से संभाषण और उच्छिष्ट भोजन छोड़कर और सब सेवा करूँगी।" (ऊपर देखकर) क्या कहा ? "इतने मोल पर कौन लेगा ?" आर्य ! कोई साधु ब्राह्मण महात्मा कृपा करके ले ही लेंगे।

(उपाध्याय और बटुक आते हैं)

उ०–क्यों रे कौंडिन्य ! सच ही दासी बिकती है ?

ब०–हाँ गुरुजी ! क्या मैं झूठ कहूँगा ? आप ही देख लीजियेगा।

उ०–तो चल, आगे आगे भीड़ हटाता चल। देख, धारा प्रवाह की भाँति कैसे सब कामकाजी लोग इधर से उधर फिर रहे हैं, भीड़ के मारे पैर धरने की जगह नहीं है, और मारे कोलाहल के कान नहीं दिया जाता।

ब०–(आगे आगे चलता हुआ) हटो भाई हटो। (कुछ आगे बढ़कर) गुरुजी ! यह जहाँ भीड़ लगी है वहीं होगी।

उ०–(शैव्या को देखकर) अरे यही दासी बिकती है ?

('शैव्या अरे कोई हमको मोल ले' इत्यादि कहती और रोती है। बालक माता की भाँति तोतली बोली से कहता है)

उ०–पुत्री ! कहो तुम कौन कौन सेवा करोगी ?

शै०–पर पुरुष से संभाषण और उच्छिष्ट भोजन छोड़कर और जो जो कहियेगा सब सेवा करूँगी।

उ०–वाह ! ठीक है। अच्छा, लो यह सुवर्ण। हमारी ब्राह्मणी अग्निहोत्र की अग्नि की सेवा से घर के कामकाज नहीं कर सकती सो तुम सँभालना।

शै०–(हाथ फैलाकर) महाराज ! आपने बड़ा उपकार किया।

उ०–(शैव्या को भली भाँति देखकर आप ही आप) अहा ! यह निस्सन्देह किसी बड़े कुल की है। इसका मुख सहज लज्जा से ऊँचा नहीं होता और दृष्टि बराबर पैर ही पर है। जो बोलती है वह धीरे-धीरे और बहुत सम्हाल के बोलती है। हा ! इसकी यह गति क्यों हुई (प्रगट) पुत्री ! तुम्हारे पति हैं न ?

(शैव्या राजा की ओर देखती है)

ह०–(आप ही आप दुःख से) अब नहीं हैं। पति के होते भी ऐसी स्त्री की यह दशा हो !

उ०–(राजा को देखकर आश्चर्य से) अरे यह विशाल नेत्र, प्रशस्त वक्षःस्थल, और संसार की रक्षा करने के योग्य लम्बी-लम्बी भुजावाला कौन मनुष्य है, और मुकुट के योग्य सिर पर तृण क्यों रखा है (प्रगट) महात्मा तुम हमको अपने दुःख का भागी समझो और कृपापूर्वक अपना सब वृत्तान्त कहो।

ह०–भगवन् ! और तो विदित करने का अवसर नहीं है, इतना ही कह सकता हूँ कि ब्राह्मण के ऋण के कारण यह दशा हुई।

उ०–तो हमसे धन लेकर आप शीघ्र ही ऋण मुक्त हूजिये।

ह०–(दोनों कानों पर हाथ रखकर) राम राम ! यह तो ब्राह्मण की वृत्ति है। आपसे धन लेकर हमारी कौन गति होगी ?

उ०–तो पाँच हजार मोहर पर आप दोनों में से जो चाहे सो हमारे संग चले।

शै०–(राजा से हाथ जोड़कर) नाथ ! हमारे आछत आप मत बिकिये, हमारी इतनी विनती मानिये (रोती है)।

ह०–(आँसू रोककर) अच्छा ! तुम्हीं जाओ ! (आप ही आप) हा ! यह वज्र हृदय हरिश्चंद्र ही का हैं कि अब भी नहीं विदीर्ण होता !

शै०–(राजा के कपड़े में सोना बाँधती हुई) नाथ ! अब तो दर्शन भी दुर्लभ होंगे। (रोती हुई उपाध्याय से) आर्य्य ! आप क्षण भर क्षमा करें तो मैं आर्य्यपुत्र का भलीभाँति दर्शन कर लूं। फिर यह मुख कहाँ और मैं कहाँ।

उ०–हाँ ! हाँ मैं जाता हूँ। कौंडिन्य यहाँ है, तुम उसके साथ आना (जाता है)।

शै०–(रोकर) नाथ ! मेरे अपराधों को क्षमा करना।

ह०–(अत्यन्त घबड़ाकर) अरे अरे विधाता ! तुझे यही करना था। (आप ही आप) हा ! पहिले महारानी बनाकर अब दैव ने इसे दासी बनाया। यह भी देखना बदा था। हमारी इस दुर्गति से आज कुलगुरु भगवान सूर्य का भी मुख मलिन हो रहा हैं (रोता हुआ) (प्रगट रानी से) प्रिये ! सर्व भाव से उपाध्याय को प्रसन्न रखना और सेवा करना।

शै०—(रोकर) नाथ ! जो आज्ञा ।

ब०—उपाध्यायजी गये, अब चलो जल्दी करो ।

ह०—(आँखों में आँसू भरके) देवी ! (फिर रुककर अत्यन्त सोच से आप ही आप) हाय ! अब मैं देवी क्यों कहता हूँ, अब तो विधाता ने इसे दासी बनाया । (धैर्य से) देवी, उपाध्याय की आराधना भलीभाँति करना और इसके सब शिष्यों से भी सुहृद भाव रखना, ब्राह्मण की स्त्री की प्रीतिपूर्वक सेवा करना, बालक का यथासंभव पालन करना और धर्म और प्राण की रक्षा करना । विशेष हम क्या समझावें । जो दैव दिखावे उसे धीरज से देखना । (आँसू बहते हैं)

शै०—जो आज्ञा (राजा के पैरों पर गिरकर रोती है)

ह०—(धैर्यपूर्वक) प्रिये ! देर मत करो, बटुक घवड़ा रहे हैं ।

(शैव्या उठकर रोती और राजा की ओर देखती हुई धीरे धीरे चलती है)

बा०—(राजा से) पिता माँ कहाँ जाती ऐं ?

ह०—(धैर्य से आँसू रोककर) जहाँ हमारे भाग्य ने उसे दासी बनाया है ।

बा०—(बटुक से) अले मा को मत ले जा । (माँ का अंचल पकड़के खींचता है ।)

ब०—(बालक को ढकेलकर) चल चल देर होती है ।

(बालक ढकेलने से गिरकर रोता हुआ उठकर अत्यन्त क्रोध और करुणा से माता पिता की ओर देखता है ।)

ह०—ब्राह्मण देवता ! बालकों के अपराध से नहीं रुष्ट होना चाहिए । (बालक को उठाकर धूल पोंछ के मुँह चूमता हुआ) पुत्र ! मुझ चांडाल का मुख इस समय ऐसे क्रोध से क्यों देखता है ? ब्राह्मण का क्रोध तो सभी दशा में सहना चाहिए । जाओ माता के संग, मुझ भाग्यहीन के साथ रहकर क्या करोगे ? (रानी से) प्रिये, धैर्य्य धरो । अपना कुल और जाति स्मरण करो । अब जाओ, देर होती है ।

(रानी और बालक रोते हुए बटुक के साथ जाते हैं)

ह०—धन्य हरिश्चंद्र ! तुम्हारे सिवाय और ऐसा कठोर हृदय किसका होगा ? संसार में धन और जन छोड़कर लोग स्त्री की रक्षा करते हैं, पर तुमने उसका भी त्याग किया ।

(विश्वामित्र आते हैं और हरिश्चंद्र पैर पर गिरकर प्रणाम करता है)

वि०–ला, दे दक्षिणा ! अब साँझ होने में कुछ देर नहीं है ।

ह०–(हाथ जोड़कर) महाराज, आधी लीजिए, आधी अभी देता हूँ । (सोना देता है)

वि०–हम आधी दक्षिणा लेके क्या करें ? दे चाहे जहाँ से सब दक्षिणा ।

(हरिश्चंद्र––'अरे सुनो भाई सेठ साहूकार' इत्यादि पुकारता हुआ घूमता है ।)

(चंडाल के वेष में धर्म और सत्य आते हैं)[1]

धर्म (आप ही आप)

हम प्रतच्छ हरिरूप जगत हमरे बल चालत ।
जल थल नभ थिर मो प्रभाव मरजाद न टालत ॥
हमहीं नर के मीत सदा साँचे हितकारी ।
इक हमहीं सँग जात, तजत जब पितु सुत नारी ॥
सो हम नित थित सत्य में जाके बल सब जग जियो ।
सोई सत्य परिच्छन नृपति को आजु भेष हम यह कियो ॥

(आश्चर्य से आप ही आप) सचमुच इस राजर्षि के समान दूसरा आज त्रिभुवन में नहीं है ।

(आगे बढ़कर प्रकट) अरे ! हरजनवाँ ! मोहर का सन्दूक ले आवा है न !

सत्य–क चौधरी ! मोहर ले के का करवो ?

धर्म–तोह से काम पूछै से ?

(दोनों आगे बढ़ते हुए फिरते हैं)

ह०–('अरे सुनो भाई सेठ साहुकार' इत्यादि दो तीन बेर पुकार के इधर उधर घमकर) हाय ! कोई नहीं बोलता और कुलगुरु भगवान् सूर्य भी आज हमसे रुष्ट होकर शीघ्र ही अस्ताचल जाया चाहते हैं । (घबराहट दिखाता है ।)

---

१. काँछा काछे, काला रंग, लाल नेत्र, सिर पर छोटे-छोटे घुंघराले बाल और शरीर नंगा, बातों में मतवालापन झलकता हुआ ।

धर्म–(आप ही आप) हाय हाय ! इस समय इस महात्मा को बड़ा ही कष्ट है। तो अब चलें आगे। (आगे बढ़कर) अरे ! अरे ! हम तुमको मोल लेंगे, लेव यह पचास सौ मोहर लेव।

ह०–(आनन्द से आगे बढ़कर) वाह कृपानिधान, बड़े अवसर पर आए। लाइये (उसको पहिचान कर) आप मोल लोगे ?

धर्म–हाँ हम मोल लेंगे। (सोना देना चाहता है)

ह०–आप कौन हैं ?

धर्म–हम चौधरी डोम सरदार। अमल हमारा दोनों पार ॥
सब मसान पर हमरा राज। कफन माँगने का हैं काज ॥
फूलमती देवी[1] के दास। पूजैं सती मसान निवास ॥
धनतेरस और रात दिवाली। बलि चढ़ाय के पूजैं काली ॥
सो हम तुमको लेंगे मोल। देंगे मोहर गाँठ से खोल ॥

(मत्त की भाँति चेष्टा करता है)

ह०–(बड़े दुःख से) अहह ! बड़ा दारुण व्यसन उपस्थित हुआ है। (विश्वामित्र से) भगवन् ! मैं पैर पड़ता हूँ, मैं जन्म भर आपका दास होकर रहूँगा, मुझे चाण्डाल होने से बचाइये।

वि०–छिः मूर्ख। भला हम दास लेके क्या करेंगे ? "स्वयं दासास्तपस्विनः"।

ह०–(हाथ जोड़कर) जो आज्ञा कीजियेगा हम सब करेंगे।

वि०–सब करेगा न ? (ऊपर हाथ उठाकर) धर्म के साक्षी देवता लोग सुनें, यह कहता है कि जो आप कहेंगे मैं सब करूँगा।

ह०–हाँ, हाँ, जो आप आज्ञा कीजियेगा सब करूँगा।

वि०–तो इसी ग्राहक के हाथ अपने को बेचकर अभी हमारी शेष दक्षिणा चुका दे।

ह०–जो आज्ञा (आप ही आप) अब कौन सोच है (प्रगट धर्म से) तो हम एक नियम पर बिकेंगे।

---

१. प्राचीन काल में चांडालों की कुलदेवी चंडकात्यायनी थी परन्तु इस काल में फूलमती इन लोगों की कुलदेवी है।

धर्म—वह कौन ?

ह०—भीख असन कम्बल वसन, रखिहैं दूर निवास।
जो प्रभु आज्ञा होइहै, करिहैं सब ह्वै दास॥

धर्म—ठीक है, लेव सोना। (दूर से राजा के आँचल में मोहर देता है)

ह०—(लेकर हर्ष से आप ही आप)

ऋण छूट्यो पूर्‌यो वचन, द्विजहु न दीनों साप।
सत्य पालि चण्डाल हूँ, होइ आजु मोहि दाप॥
(प्रगट विश्वामित्र से) भगवन्, लीजिये यह मोहर।

वि०—(मुँह चिढ़ाकर) सचमुच देता है ?

ह०—हाँ, हाँ, यह लीजिये ! (मोहर देते हैं)

वि०—(लेकर) स्वस्ति। (आप ही आप) बस अब चलो, बहुत परीक्षा हो चुकी। (जाना चाहते हैं)

ह०—(हाथ जोड़कर) भगवन् ! दक्षिणा देने में देर होने का अपराध क्षमा हुआ न ?

वि०—हाँ, क्षमा हुआ। अब हम जाते हैं।

ह०—भगवन् ! प्रणाम करता हूँ।

(विश्वामित्र आशीर्वाद देकर जाते हैं)

ह०—अब चौधरीजी (लज्जा से रुककर) स्वामी की जो आज्ञा हो वह करें।

धर्म—(मत्त की भाँति नाचता हुआ)

जाओ अभी दक्खिनी मसान। लेव वहाँ कप्फन का दान॥
जो कर तुमको नहीं चुकावे। सो किरिया करने नहिं पावे॥
चलो घाट पर करो निवास। भए आज से हमरे दास॥

ह०—जो आज्ञा।

(जवनिका गिरती है)

३

स्थान–दक्षिण श्मशान

[नदी, पीपल का बड़ा पेड़, चिता, मुरदे, कौए, सियार, कुत्ते, हड्डी इत्यादि]

(कंबल ओढ़े और एक मोटा लट्ठ लिए हुए राजा हरिश्चंद्र दिखाई पड़ते हैं।)

ह०–(लंबी साँस लेकर) हाय ! अब जन्म भर यही दुःख भोगना पड़ेगा !

जाति दास चण्डाल की, घर घनघोर मसान।
कफन खसोटी को करम, सब ही एक समान ॥

अथवा क्या हुआ ? यह तो कोई न कहेगा कि हरिश्चंद्र ने सत्य छोड़ा !

बेचि देह दारा सुअन, होइ दास हूँ मन्द।
राख्यो निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचन्द ॥

(आकाश से पुष्पवृष्टि होती है)

अरे यह असमय में पुष्पवृष्टि कैसी ? किसी पुन्यात्मा का मुरदा आया होगा तो हम सावधान हो जायँ (लट्ठ कंधे पर रखकर फिरता हुआ) खबरदार ! खबरदार ! बिना हमसे कहे और बिना हमें आधा कफन दिये कोई संस्कार न करे। (यही कहता हुआ निर्भय मुद्रा से इधर उधर फिरता है) (नेपथ्य में कोलाहल सुनकर) हाय हाय ! कैसा भयंकर श्मशान है। दूर से मण्डल बाँध-बाँधकर चोंच बाए, डैना फैलाए, कंगालों की तरह मुर्दों पर गिद्ध कैसे गिरते हैं और कैसा मांस नोच नोचकर आपस में लड़ते और चिल्लाते हैं। इधर अत्यन्त कर्णकटु अमंगल के नगाड़े की भाँति एक के शब्द की लाग से दूसरे सियार कैसे रोते हैं। उधर चिरांइन फैलाती हुई चट चट करती चितायें कैसे जल रही हैं, जिनमें कहीं से मांस के टुकड़े उड़ते हैं, कहीं लोहू वा चरबी बहती है। आग का रंग मांस के सम्बन्ध से नीला पीला हो रहा है, ज्वाला घूम घूमकर निकलती है, कभी एक साथ धधक उठती है, कभी मन्द हो जाती है, धूआँ चारों ओर छा रहा है।

(पिशाच और डाकिनीगण परस्पर आमोद करते और गाते बजाते हुए आते हैं ।)

पि० और डा०—हैं भूत प्रेत हम, डायन हैं छमाछम ।
हम सेवैं मसान शिव को भजैं बोलैं बम बम बम ॥
पि०—हम कड़ कड़ कड़ कड़ कड़ कड़ हड्डी को तोड़ेंगे ।
हम भड़ भड़ धड़ धड़ पड़ पड़ सिर सबका फोड़ेंगे ॥
डा०—हम घुट घुट घुट घुट घुट घुट लोहू पिलावेंगी ।
हम चट चट चट चट चट चट ताली बजावेंगी ॥
सब—हम नाचें मिलकर थेई थेई थेई थेई कूदें धम् धम् धम् ।
हैं भूत प्रेत हम डायन हैं छमाछम—
पि०—हम काट काट कर शिर का गेंदा उछालेंगे ।
हम खींच खींचकर चरबी पंशाखा बालेंगे ॥
डा०—हम माँग में लाल-लाल लोहू का सेंदुर लगावेंगी ।
हम नस के तागे चमड़े का लहँगा बनावेंगी ॥
सब—हम धज से सज के बज के चलेंगे चमकेंगे चम चम चम ।
पि०—लोहू का मुँह से फर्र फर्र फुहारा छोड़ेंगे ॥
माला गले पहिरने का अँतड़ी को जोड़ेंगे ।
डा०—हम लाद के औंधे मुरदे चौकी बनावेंगी ॥
कफन बिछा के लड़कों को उस पर सुलावेंगी ।
सब—हम सुख से गावेंगे ढोल बजावेंगे ढम ढम ढम ढम ढम ॥

(वैसे ही कूदते हुए एक ओर से चले जाते हैं)

ह०—(कौतुक से देखकर) पिशाचों की क्रीड़ा-कौतूहल भी देखने के योग्य है । अहा ! भगवान भूतनाथ ने बड़े कठिन स्थान पर योग साधना की है । (खबरदार इत्यादि कहता हुआ इधर उधर फिरता है) (ऊपर देखकर) आधी रात हो गई, वर्षा के कारण अँधेरी बहुत ही छा रही है, हाथ से हाथ नहीं सूझता ! चाण्डाल कुल की भाँति श्मशान पर तम का आज राज हो रहा है !

(कुछ देर तक चुप रहकर) कौन है ? (खबरदार इत्यादि कहता हुआ इधर उधर फिरकर)

इन्द्रकाल हू सरिस जो आयसु लाँघै कोय।
यह प्रचण्ड भुजदण्ड मम, प्रति भट ताको होय ।।

(नेपथ्य में)

पुत्र हरिश्चंद्र ! सावधान ! यह अन्तिम परीक्षा है। तुम्हारे पुरखा इक्ष्वाकु से लेकर त्रिशंकु पर्य्यन्त आकाश में नेत्र भरे खड़े एक टक तुम्हारा मुख देख रहे हैं। आज तक इस वंश में ऐसा कठिन दुःख किसी को नहीं हुआ था। ऐसा न हो कि इनका सिर नीचा हो। अपने धैर्य का स्मरण करो।

ह०–(घबड़ाकर ऊपर देखकर) अरे यह कौन है ? कुलगुरु भगवान सूर्य अपना तेज समेटे मुझे अनुशासन कर रहे हैं। (ऊपर देखकर) पितः मैं सावधान हूँ। सब दुःखों को फूल की माला की भाँति ग्रहण करूँगा।

(नेपथ्य में रोने की आवाज सुन पड़ती है)

ह०–अरे अब सबेरा होने के समय मुरदा आया। अथवा चाण्डाल कुल का सदा कल्याण हो, हमें इससे क्या ?

(खबरदार इत्यादि कहता हुआ फिरता है)

(नेपथ्य में)

हाय ! कैसी भई ! हाय बेटा ! हमें रोती छोड़ के कहाँ चले गये। हाय हाय रे !

ह०–अहह ! किसी दीन स्त्री का शब्द हैं, और शोक भी इसको पुत्र का है। हाय हाय ! हमको भी भाग्य ने क्या ही निर्दय और बीभत्स कर्म सौंपा है। इससे भी वस्त्र माँगना पड़ेगा।

(रोती हुई शैव्या रोहिताश्व का मुरदा लिए आती है)

शै०–(रोती हुई) हाय बेटा ! जब बाप ने छोड़ दिया तब तुम भी छोड़ चले। हाय हमारी बिपत और बुढ़ौती की ओर भी तुमने न देखा ! हाय हाय ! हाय रे ! अब हमारी कौन गति होगी ? (रोती है)

ह०—हाय हाय ! इसके पति ने भी छोड़ दिया है। हा ! इस तपस्विनी को निष्करुण विधि ने बड़ा ही दुःख दिया है।

शै०—(रोती हुई) हाय बेटा ! अरे आज मुझे किसने लूट लिया ? हाय मेरी बोलती चिड़िया कहाँ उड़ गई ! हाय अब मैं किसका मुँह देखकर जीऊँगी ! हाय ! मेरी अन्धी की लकड़ी कौन छीन ले गया। हाय मेरा ऐसा सुन्दर खिलौना किसने तोड़ डाला ! अरे बेटा, तै तो मरे पर भी सुन्दर लगता है ! हायरे ! अरे बोलता क्यों नहीं ! बेटा जल्दी बोल, देख माँ कब की पुकार रही है। बच्चा तू तो एक ही दफे पुकारने में दौड़कर गले से लिपट जाता था, आज क्यों नहीं बोलता ? (शव को बार बार गले से लगाती, देखती और चूमती है)

ह०—हाय ! हाय ! इस दुखिया के पास तो खड़ा नहीं हुआ जाता।

शै०—(पागल की भाँति) अरे यह क्या हो रहा है ! बेटा, कहाँ गये हो ? आओ जल्दी ? अरे अकेले इस मसान में मुझे डर लगता है, यहाँ मुझको कौन ले आया है रे। अरे ! बेटा जल्दी आओ। अरे क्या कहते हो, मैं गुरु का फूल लेने गया था, वहाँ काले साँप ने मुझे काट लिया ? हाय ! हाय रे ! ! अरे कहाँ काट लिया ? अरे कोई दौड़ के किसी गुनी को बुलाओ जो जिलावे बच्चे को ! अरे वह साँप कहाँ गया, हमको क्यों नहीं काटता ? काट रे काट, क्या इस सुकुँआर बच्चे ही पर बल दिखाना था ? हमें काट। हाय ! हमको नहीं काटता। अरे यहाँ तो कोई साँप वाँप नहीं है। मेरे लाल, झूठ बोलना कब से सीखे ? हाय हाय ! मैं इतना पुकारती हूँ और तुम खेलना नहीं छोड़ते ? बेटा गुरुजी पुकार रहे हैं, उनके होम की बेला निकली जाती है। देखो बड़ी देर से वह तुम्हारे आसरे बैठे हैं। दो जल्दी उनको दूब और बेलपत्र ! हाय ! हमने इतना पुकारा तुम कुछ नहीं बोलते। (जोर से) बेटा, साँझ भई, सब विद्यार्थी लोग घर फिर आये; तुम अब तक क्यों नहीं आये ? (आगे शव देखकर) हाय हाय रे ! अरे मेरे लाल को साँप ने सचमुच डस लिया ! हाय लाल ! हाय रे ! मेरी आँखों के उजियाले को कौन ले गया। हाय मेरा बोलता हुआ सुग्गा कहाँ उड़ गया। बेटा ! अभी

तो बोल रहे थे, अभी क्या हो गया। हाय, मेरा बसा घर आज किसने उजाड़ दिया। हाय मेरी कोख में किसने आग दी ! हाय, मेरा कलेजा किसने निकाल लिया। (चिल्ला चिल्लाकर रोती है) हाय, लाल कहाँ गये ? अरे ! अब मैं किसका मुँह देख के जीऊँगी रे ? हाय ! अब माँ कहके मुझको कौन पुकारेगा ? अरे आज किस वैरी की छ ती ठण्डी भई रे ? अरे, तेरे सुकुँआर अंगों पर भी काल को तनिक दया न आई ! अरे बेटा ! आँख खोलो। हाय ! मैं सब विपत तुम्हारा ही मुँह देखकर सहती थी, सो अब कैसे जीती रहूँगी। अरे लाल ! एक बेर तो बोलो। (रोती है)

ह०—न जाने क्यों इसके रोने पर मेरा कलेजा फटा जाता है।

शै०–(रोती हुई) हा नाथ ! अरे अपने गोद के खिलाये बच्चे की यह दशा क्या नहीं देखते ? हाय ! अरे तुमने तो इसको हमें सौंपा था कि इसे अच्छी तरह पालना, सो हमने इसकी यह दशा कर दी। हाय ! अरे ऐसे समय में भी आकर नहीं सहाय होवे ? भला एक बार लड़के का मुँह तो देख जाओ ! अरे मैं अब किसके भरोसे जीऊँगी।

ह०–हाय-हाय ! इसकी बातों से तो प्राण मुँह को चले आते हैं और मालूम होता है कि संसार उलटा जाता है। यहाँ से हट चलें (कुछ दूर हटकर उसकी ओर देखता हुआ खड़ा हो जाता है।)

शै०–(रोती हुई) हाय ! यह बिपत का समुद्र कहाँ से उमड़ पड़ा। अरे छलिया मुझे छलकर कहाँ भाग गया। (देखकर) अरे आयुष की रेखा तो इतनी लंबी है, फिर अभी यह वज्र कहाँ से टूट पड़ा। अरे ऐसा सुन्दर मुँह, बड़ी बड़ी आँख, लंबी लंबी भुजा, चौड़ी छाती, गुलाब सा रंग। हाय, मरने के तुझमें कौन लच्छन थे जो भगवान् ने तुझे मार डाला। हाय लाल ! अरे, बड़े बड़े जोतिस गुनी लोग तो कहते थे कि तुम्हारा बेटा बड़ा प्रतापी चक्रवर्ती राजा होगा, बहुत दिन जियेगा, सो सब झूठ निकला। हाय ! पोथी, पत्रा, पूजा, पाठ, दान, जप, होम कुछ भी काम न आया ! हाय ! तुम्हारे बाप का कठिन पुण्य भी तुम्हारा सहाय न हुआ और तुम चल बसे। हाय !

ह०—अरे इन बातों से मुझे बड़ी शंका होती है (शव को भली भाँति देखकर) अरे ! इस लड़के में तो सब लक्षण चक्रवर्ती के से दिखाई पड़ते हैं। हाय न जाने किस बड़े कुल का दीपक आज इसने बुझाया है, और न जाने किस नगर को आज इसने अनाथ किया है। हाय ! रोहिताश्व भी इतना बड़ा हुआ होगा। (बड़े सोच से) हाय ! हाय मेरे मुंह से क्या अमंगल निकल गया ! नारायण ! (सोचता है)

शैं०—भगवन् विश्वामित्र ! आज तुम्हारे सब मनोरथ पूरे हुए ! हाय !

ह०—(घबड़ाकर) हाय हाय। यह क्या ? (भली भाँति देखकर रोता हुआ) हाय ! अब तक मैं सन्देह ही में पड़ा हूँ ? अरे ! मेरी आँखें कहाँ गई थीं जिनने अब तक पुत्र रोहिताश्व को न पहिचाना और कान कहाँ गये थे जिनने अब तक महारानी की बोली न सुनी ! हा पुत्र ! हा लाल ! हा सूर्यवंश के अंकुर ! हा हरिश्चन्द्र की विपत्ति के एकमात्र अवलम्ब ! हाय ! तुम ऐसे कठिन समय में दुखिया माँ को छोड़कर कहाँ गये ? आज हम सचमुच चांडाल हुए। लोग कहेंगे कि इसने न जाने कौन दुष्कर्म किया था कि पुत्रशोक देखा। हाय ! हम संसार को क्या मुंह दिखावेंगे ? (रोता है) वा संसार में इस बात के प्रगट होने के पहिले ही हम भी प्राणत्याग करें ? (पेड़ के पास जाकर फाँसी देने के योग्य डाल खींचकर उसमें दुपट्टा बाँधता है) धर्म ! मैंने अपने जान सब अच्छा ही किया, परन्तु न जाने किस कारण मेरा सब आचरण तुम्हारे विरुद्ध पड़ा सो मुझे क्षमा करना। (दुपट्टे की फाँसी गले में लगाना चाहता है कि एक साथ चौंककर) गोविन्द ! गोविन्द ! यह मैंने क्या अनर्थ अधर्म विचारा ! भला मुझ दास को अपने शरीर पर क्या अधिकार था कि मैंने प्राण त्याग करना चाहा ! भगवान सूर्य इसी क्षण के हेतु अनुशासन करते थे। नारायण ! नारायण ! इस इच्छाकृत मानसिक पाप से कैसे उद्धार होगा ? हे सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर ! क्षमा करना। दुःख से मनुष्य की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती, अब तो मैं चाण्डाल कुल का दास हूँ, न अब शैव्या मेरी स्त्री है और न रोहिताश्व मेरा पुत्र ! चलूं अब अपने स्वामी के काम पर सावधान हो जाऊं, वा देखूं अब दुःखिनी शैव्या क्या करती है ?

(शैव्या के पीछे जाकर खड़ा होता है)

शै०—(पहले तरह बहुत रोकर) हाय अब मैं क्या करूँ ? अब मैं किसका मुँह देखकर संसार में जीऊँगी ? हाय ! मैं आज से निपूती भई। पुत्रवती स्त्रियाँ अपने बालकों पर मेरी छाया न पड़ने देंगी ! हा ! नित्य सवेरे उठाकर अब मैं किसकी चिंता करूँगी ? खाने के समय मेरी गोद में बैठकर और मुझसे माँग माँगकर अब कौन खायगा ? मैं परोसी थाली सूनी देखकर कैसे प्राण रखूंगी ? (रोती है) हाय ! खेलते खेलते आकर मेरे गले से कौन लपट जायगा ? और माँ माँ कहकर तनक तनक बातों पर कौन हठ करेगा ? हाय ! मैं अब किसको अपने आँचल से मुँह की धूल पोंछकर गले लगाऊँगी और किसके अभिमान से विपत्ति में भी फूली फूली फिरूँगी ? (रोती है) या जब रोहिताश्व ही नहीं तो मैं ही जीके क्या करूँगी। (छाती पीटकर) हाय प्राण तुम अब भी क्यों नहीं निकलते ? हाय, मैं ऐसी स्वारथी हूँ कि आत्महत्या के नरक के भय से अब भी अपने को नहीं मार डालती। नहीं नहीं, अब मैं न जीऊँगी। या तो इस पेड़ में फांसी लगाकर मर जाऊँगी या गंगा में कूद पड़ूँगी। (उन्मत्ता की भाँति उठकर दौड़ना चाहती है)

ह०—(आड़ में से)

तनहिं बेचि दासी कहवाई। मरत स्वामि आयसु बिनु पाई ॥
करु न अधर्म सोच जिय माहीं। 'पराधीन सपनेहु सुख नाहीं ॥'

शै०—(चौकन्नी होकर) अहा यह किसने इस कठिन समय में धर्म का उपदेश किया ? सच है, मैं अब इस देह की कौन हूँ जो मर सकूं ? हाय दैव ! तुझसे यह भी न देखा गया कि मैं मरकर भी सुख पाऊँ ? (कुछ धीरज धरकर) तो चलूं छाती पर वज्र धरके अब लोकरीति करूँ। (रोती और लकड़ी चुनकर चिता बनाती हुई) हाय, जिन हाथों से ठोक ठोककर रोज सुलाती थी उन्हीं हाथों से आज चिता पर कैसे रखूंगी। जिसके मुंह में छाला पड़ने के भय से कभी मैंने गर्म दूध भी नहीं पिलाया उसे''''(बहुत ही रोती है)

ह०–धन्य देवी, आखिर तो चंद्र सूर्यकुल की स्त्री हो, तुम न धीरज धरोगी तो कौन धरेगा।

(शैव्या चिता बनाकर पुत्र के पास आकर उठाना चाहती और रोती है)

ह०–तो अब चलें उससे आधा कफन माँगें (आगे बढ़कर और बलपूर्वक आँसुओं को रोककर शैव्या से) महाभागे ! श्मशानपति की आज्ञा है कि आधा कफन दिए बिना कोई मुरदा फूंकने न पावे सो तुम भी पहले हमें कपड़ा दे लो तब क्रिया करो।

(कफन माँगने को हाथ फैलाता है। आकाश से पुष्पवृष्टि होती है)

(नेपथ्य में)

अहो धैर्यमहो सत्यमहो दानमहो बलम्।
त्वया राजन् हरिश्चंद्र सर्व्वं लोकोत्तरं कृतम् ॥

(दोनों आश्चर्य से ऊपर देखते हैं)

शै०–हाय ! इस कुसमय में आर्य्यपुत्र की यह कौन स्तुति करता है ! वा इस स्तुति ही से क्या है, शास्त्र सब असत्य हैं, नहीं तो आर्य्यपुत्र से धर्मी की यह गति हो। यह केवल देवताओं और ब्राह्मणों का पाखंड है।

ह०–(दोनों कानों पर हाथ रखकर) नारायण ! नारायण ! महाभागे ऐसा मत कहो। शास्त्र, ब्राह्मण और देवता त्रिकाल में सत्य हैं। ऐसा कहोगी तो प्रायश्चित्त होगा। अपना धर्म विचारो। लाओ मृत कंबल हमें दो और अपना काम प्रारंभ करो। (हाथ फैलाता है)

शै०–(महाराज हरिश्चंद्र के हाथ में चक्रवर्ती का चिह्न देखकर और स्वर कुछ आकृति से अपने पति को पहचानकर) हा आर्य्यपुत्र ! इतने दिन तक कहाँ छिपे थे ? देखो अपने गोद के खिलाए दुलारे पुत्र की दशा। तुम्हारा प्यारा रोहिताश्व देखो अब अनाथ की भाँति मसान में पड़ा है। (रोती है)

ह०–प्रिये धीरज धरो, यह रोने का समय नहीं है। देखो सबेरा हुआ चाहता है, ऐसा न हो कि कोई आ जाय और हम लोगों को जान ले, और एक लज्जा मात्र बच गई है वह भी जाय। चलो कलेजे पर सिल रखकर अब रोहिताश्व की क्रिया करो और आधा कंबल हमको दो।

शै०–(रोती हुई) नाथ मेरे पास तो एक भी कपड़ा नहीं था, अपना आँचल फाड़कर इसे लपेट लाई हूँ, उसमें से भी जो आधा दे दूँगी तो यह खुला रह जायगा ! हाय ! चक्रवर्ती के पुत्र को आज कफन नहीं मिलता ! (बहुत रोती है)

ह०–(बलपूर्वक आंसुओं को रोककर और बहुत धीरज धरकर) प्यारी ! रो मत। ऐसे समय में तो धीरज और धरम रखना काम है। मैं जिसका दास हूँ उसकी आज्ञा है कि बिना आधा कफन लिये क्रिया मत करने दो। इसमें मैं यदि अपनी स्त्री और अपना पुत्र समझकर तुमसे इसका आधा कफन न लूँ तो बड़ा अधर्म हो। जिस हरिश्चंद्र ने उदय से अस्त तक की पृथ्वी के लिये धर्म न छोड़ा उसका धर्म आधा गज कपड़े के वास्ते मत छुड़ाओ और कफन से जल्दी आधा कपड़ा फाड़ दो। देखो, सबेरा हुआ चाहता है, ऐसा न हो कि कुलगुरु भगवान सूर्य अपने वंश की यह दुर्दशा देखकर चित्त में उदास हों। (हाथ फैलाता है)

शै०–(रोती है) नाथ जो आज्ञा। (रोहिताश्व का मृत कंबल फाड़ा चाहती है कि रंगभूमि की पृथ्वी हिलती है, तोप छूटने का सा शब्द और बिजली का सा उजाला होता है, नेपथ्य में बाजे की और 'बस धन्य' और 'जय जय' की ध्वनि होती है, फूल बरसते हैं और भगवान नारायण प्रगट होकर राजा हरिश्चंद्र का हाथ पकड़ लेते हैं।)

भ०–बस महाराज बस ! धर्म और सत्य सबकी परमावधि हो गई। देखो तुम्हारे पुण्य-भय से पृथ्वी बारंबार काँपती हैं, अब त्रैलोक्य की रक्षा करो। (नेत्रों से आँसू बहते हैं)

ह०–(साष्टांग दंडवत् करके रोता हुआ गद्गद स्वर से) भगवन् ! मेरे वास्ते आपने परिश्रम किया। कहाँ यह श्मशान-भूमि, कहाँ यह मृत्युलोक, कहाँ मेरा मनुष्य शरीर, और कहाँ पूर्ण परब्रह्म सच्चिदानन्दघन साक्षात् आप। (प्रेम के आँसुओं से और गद्गद कंठ होने से कुछ कहा नहीं जाता।)

भ०–(शैव्या से) पुत्री अब सोच मत कर। धन्य तेरा सौभाग्य कि तुझे राजर्षि हरिश्चंद्र ऐसा पति मिला है। (रोहिताश्व की ओर देखकर) वत्स

रोहिताश्व ! उठो ! देखो तुम्हारे माता पिता देर से तुम्हारे मिलने को व्याकुल हो रहे हैं।

(रोहिताश्व उठ खड़ा होता है और आश्चर्य से भगवान् को प्रणाम करके माता पिता का मुँह देखने लगता है, आकाश से फिर पुष्पवृष्टि होती है। हरिश्चंद्र और शैव्या आश्चर्य, आनंद, करुणा और प्रेम से कुछ कह नहीं सकते, आँखों से आँसू बहते हैं और एकटक भगवान् के मुखारबिन्द की ओर देखते हैं।)

एक और काशी : ऐबी गैबी

स्थान—गैबी, पेड़, कूआँ, पास बावली

(दलाल, गंगापुत्र, दूकानदार, भंडेरिया और झूरीसिंह बैठे हैं)

द—कहो गहन यह कैसा बीता ? ठहरा भोग विलासी—
माल वाल कुछ मिला, या हुआ कोरा सत्यानासी ?
कोई चूतिया फँसा या नहीं ? कोरे रहे उपासी ?
ग—मिलै न काहे भैया, गंगामैया दौलतदासी ॥
हम से पूत कपूत की दाता मनकनिका सुखरासी ।
भूखे पेट कोई नहि सुतता, ऐसी है ई कासी ॥
दू—परदेसियौ बहुत रहे आए ?
ग— और साल से बढ़कर ।
भ—पितर सौंदनी रही न अमसिया,
झू— रंग है पुराने झंझर ॥
खूब बचा ताड़यो, का कहना,
तूं हौ चूतिया हंटर ।
भ—हम न तड़वै तो के तड़िये ? यही तो किया जनम भर ॥
द—जो हो, अब की भली हुई यह अमावसी पुनवासी ।
ग—भूखे पेट कोई नहिं सुतता, ऐसी है ई कासी ॥
झू—यार लोग तो रोज कड़ाका करथैं ऐ पैजामा ।
ग—ई तो झूठ कहथौ, सिंहा,
झू— तू सच बोल्यो, मामा ॥
ग—तोहैं का, तू मार पीट के करथौ अपना कामा ।
कोई का खाना, कोई की रंडी, कोई का पगड़ी जामा ॥
झू—ऊ दिन खीपट दूर गए अब सोरहो दंड एकासी ।
ग—भूखे पेट कोई नहिं सुतता, ऐसी है ई कासी ॥

भू—जब से आए नए मजिस्टर तब से आफत आई ।
जान छिपावत फिरीथै खटमल—
दु—   ई सच है माई ॥
भू—ई है ऐसा तेज गुरू बरसन के देथै लदाई ।
गोविन पालक मेकलौडो से एकी जबर दोहाई ॥
जान बचावत छिपत फिरीथै घुस गई सब बदमासी ।
ग—भूखे पेट कोई नहिं सुतता, ऐसी है ई कासी ॥
भू—तोरे आँख में चरबी छाई माल न पायो गोजर ।
कैसी दून की सूझ रही है असमानों के उप्पर ॥
तर न भए हौ पैदा करके, धर के माल चुतरे तर ।
बछिया के बाबा, पँडिया के ताऊ, घुसनि के घुसघुस झरझर ॥
कहाँ की ई तूं बात निकास्यो खासी सत्यानासी ।
भूखे पेट कोई नहिं सुतता, ऐसी है ई कासी ॥
(गाता हुआ एक परदेसी आता है)
प—देखी तुमरी कासी, लोगो, देखी तुमरी कासी ।
जहाँ विराजै विश्वनाथ विश्वेश्वरजी अविनासी ॥
आधी कासी भाट भंडेरिया बाम्हन औ संन्यासी ।
आधी कासी रंडी मुंडी राँड खानगी खासी ॥
लोग निकम्मे भंगी गंजड़ लुच्चे बे-विसवासी ।
महा आलसी झूठे शुहदे बे-फिकरे बदमासी ॥
आप काम कुछ कभी करैं नहिं कोरे रहैं उपासी ।
और करे तो हँसैं बनावैं उसको सत्यानासी ॥
अमीर सब झूठे औ निंदक करें घात विश्वासी ।
सिपारसी डरपुकने सिट्टू बोलैं बात अकासी ॥
मैली गली भरी कतवारन सड़ी चमारिन पासी ।
नीचे नल से बदबू उबलै मनो नरक चौरासी ॥
कुत्ते भूंकत काटन दौड़ैं सड़क साँड़ सों नासी ।
दौड़ैं बंदर बने मुछंदर कूदैं चढ़ैं अकासी ॥

घाट जाओ तो गंगापुत्तर नोचैं दै गल फाँसी ।
करैं घाटिया बस्तर-मोचन दे देके सब झाँसी ॥
राह चलत भिखमंगे नोचैं बात करैं दाता सी ।
मंदिर बीच भँड़ेरिया नोचैं करैं धरम की गाँसी ॥
सौदा लेत दलालो नोचैं देकर लासालासी ।
माल लिये पर दुकनदार नोचैं कपड़ा दे रासी ॥
चोरी भए पर पूलिस नोचैं हाथ गले बिच ढासी ।
गए कचहरी अमला नोचैं मोचि बनावैं घासी ॥
फिरैं उचक्का दे दे धक्का लूटैं माल मवासी ।
कैद भए की लाज तनिक नहिं वे-सरमी नंगा सी ॥
साहेब के घर दौड़े जावैं चंदा देहिं निकासी ।
चढ़ै बुखार नाम मंदिर का सुनतहि होंय उदासी ॥
घर की जोरू लड़के भूखे बने दास औ दासी ।
दाल की मंडी रंडी पूजैं मानो इनकी मासी ॥
आप माल कचरैं छानैं उठि भोरहि कागाबासी ।
वाप के तिथि दिन बाम्हन आगे धरैं सड़ा औ बासी ॥
करि वेवहार साक बाँधैं बस पूरी दौलतदासी ।
घालि रुपैया काढ़ि दिवाला माल डेकारैं ठाँसी ॥
कामकथा अमृत सी पीयैं समुझैं ताहि विलासी ।
रामनाम मुँह से नहिं निकसै सुनतहि आवै खाँसी ॥
देखी तुमरी कासी भैया, देखी तुमरी कासी ॥

भू—कहो ई सरवा अपनें सहर की इतनी निन्दा कर गवा तूं लोग कुछ बोलत्यौ नाहीं ?

गं—भैया, अपना जिजमान जो हैं; अपने न बोलैंगे चाहे दस गारी भी दे ले ।

भं—अपनो जिजमानैं ठहरा ।

द—और अपना भी गाहकै है ।

दू—और भाई हमहूँ चार पैसा एके बदौलत पावा है ।

भू–नूं सब का बोलबो तूं सब निरे दब्बू चप्पू हौ, हम बोलबै। (परदेसी से) ए चिड़ियाबावली के परदेसी फरदेसी। कासी की बहुत निंदा मत करो; मुंह बस्सैये का कहैं के साहिब मजिस्टर हैं नाहीं तो निन्दा करना निकास देते।

प–निकास क्यों देते ? तुमने क्या किसी का ठीका लिया है ?

भू–हाँ हाँ, ठीका लिया है मटियाबुर्ज।

प–तो क्या हम झूठ कहते हैं ?

भू–राम राम तू भला कबौं झूठ बोलबो ? तू तो निरे पोथी के बेठन हौ।

प–बेठन क्या।

भू–बे ते मत करो गप्पो के, नाहीं तो तोरी अरबी फारसी घुसेड़ देवैं।

प–तुम तो भाई अजब लड़ाके हो, लड़ाई मोल लेते फिरते हौ। बे ते किसने किया है ? यह तो अपनी राय है कोई किसीको अच्छा कहता है कोई बुरा कहता है। इससे बुरा क्या मानना।

भू–सच है पनचोरा, तू कहै सो सच्च, बुड्ढ़ी तू कहे सो सच्च।

प–भाई अजब शहर है, लोग बिना बात ही लड़े पड़ते हैं।

(सुधाकर आता है)

(सब लोग आशीर्वाद, दंडवत, आओ आओ शिष्टाचार करते हैं)

गं–भैया इनके दम के चैन हैं। ई अमीरन के खेलउना हैं।

भू–खेलउना का हैं टाल खजानची खिदमतगार सबै कुछू हैं।

सु–तुम्हें साहब चरियै थूकना आता है।

भू–चर्री का, हमहन झूठ बोलील:; अरे बखत पड़े पर तूं रंडः ले आवः मंगल के मुजरा मिले ओमें दस्तूरी काटः, पैर दाबः रुपया पैसा अपने पास रक्खः यारन के दूरे से झाँसा बतावः। ऐ ! ले गुरु तोहीं कहः हम झूठ कहथई।

गं–अरे भैया बिचारे ब्राह्मण कोई तरह से अपना कालच्छेप करथैं ब्राह्मण अच्छे हैं।

भं–हाँ भाई न कोई के बुरे में न भले मैं और इनमें एक बड़ी बात है कि इनकी चाल एक-रंगै हमेसा से देखी थै।

गं–और साहेब एक अमीर के पास रहै से इनकी चार जगह जान पहिचान होय गई। अपनी बात अच्छी बनाय लिहिन है।

दू–हां भाई बजार में भी इनकी साक बँधी हैं।

सु–भया भया यह पचड़ा जाने दो; कहो यह नई मूरत कौन है ?

झू–गुरु साहब ! हम हियाँ भाँग का रगड़ा लगावत रहें बीच में गहन के मारे-पीटे ई धूआँकस आय गिरे।

आके पिंजड़े में फँसा अब तो पुराना चंडूल।
लगी गुलसन की हवा दुम का हिलाना गया भूल॥

(परदेसी के मुँह के पास चुटकी बजाता है और नाक के पास से उँगली लेकर दूसरे हाथ की उँगली पर घुमाता है)

प–भाई तुम्हारे शहर सा तुम्हारा ही शहर है, यहाँ की लीला ही अपरंपार है।

झू–तोहूँ लीला करथौ।

प–क्या ?

झू–नहीं ई जे तोहूँ रामलीला में जाथौ कि नाहीं ?

(सब हँसते हैं)

प–(हाथ जोड़कर) भाई तुम जीते हम हारे, माफ करो।

झू–(गाता है) तुम जीते हम हारे साधो तुम जीते हम हारे।

सु–(आप ही आप) हा ! क्या इस नगर की यही दशा रहेगी ? जहाँ के लोग ऐसे मूर्ख हैं वहाँ आगे किस बात की वृद्धि की संभावना करें ! केवल इस मूर्खता छोड़ इन्हें कुछ आता ही नहीं ! निष्कारण किसीको बुरा भला कहना। बोली ही बोलने में इनका परम पुरुषार्थ ! अनाब शनाब जो मुंह से आया बक उठे; न पढ़ना न लिखना ! हाय ! भगवान् इसका कब उद्धार करैगा !!

झू–गुरु, का गुड़बुड़-गुड़बुड़ जपथौ ?

सु–कुछ नाहीं भाई यही भगवान का नाम।

झू–हाँ भाई, भई एह बेरा टें टें न किया चाहिए रामराम की बखत भई तो चलो न गुरु।

सब–चलो भाई।

(जवनिका गिरती है)

यम का न्याय

स्थान – यमपुरी

[यमराज बैठे हैं और चित्रगुप्त पास खड़े हैं]

(चार दूत राजा, पुरोहित, मंत्री, गंडकीदास, शैव और वैष्णव को पकड़-कर लाते हैं)

१ दूत–[राजा के सिर में धौल मारकर] चल बे चल, अब यहाँ तेरा राज नहीं है कि छत्र-चंवर होगा, फूल से पैर रखता है, चल भगवान् यम के सामने और अपने पाप का फल भुगत, बहुत कूद कूदके हिंसा की और मदिरा पी, सौ सोनार की न एक लोहार की।

[दो धौल और लगाता है]

२ दूत–[पुरोहित को घसीटकर] चलिए पुरोहितजी, दक्षिणा लीजिये, वहाँ आपने चक्र-पूजन किया था, यहाँ चक्र में आप चलिए, देखिए बलिदान का कैसा बदला लिया जाता है।

३ दूत–[मंत्री की नाक पकड़कर] चल बे चल, राज के प्रबंध के दिन गये, जूती खाने के दिन आये, चल अपने किये का फल ले।

४ दूत–[गंडकीदास का कान पकड़कर झोंका देकर] चल रे पाखंडी चल, यहाँ लंबा टीका काम न आएगा। देख वह सामने पाखंडियों का मार्ग देखनेवाले सर्प मुँह खोले बैठे हैं।

[सब यमराज के सामने जाते हैं]

यम०–[वैष्णव और शैव से] आप लोग यहाँ आकर मेरे पास बैठिए।

वै० और शै०–जो आज्ञा। [यमराज के पास बैठ जाते हैं]

यम०–चित्रगुप्त, देखो तो इस राजा ने कौन-कौन कर्म किये हैं।

चित्र०–[बही देखकर] महाराज, सुनिये, यह राजा जन्म से पाप में रत रहा, इसने धर्म्म को अधर्म्म माना और अधर्म्म को धर्म्म माना, जो जी चाहा

किया और उसकी व्यवस्था पण्डितों से ले ली, लाखों जीव का इसने नाश किया और हजारों घड़े मदिरा के पी गया पर आड़ सर्व्वदा धर्म्म की रखी, अहिंसा, सत्य, शौच, दया, शांति और तप आदि सच्चे धर्म्म इसने एक न किये, जो कुछ किया वह केवल वितंडा कर्म-जाल किया, जिसमें मांस भक्षण और मदिरा पीने को मिलै, और परमेश्वर-प्रीत्यर्थं इसने एक कौड़ी भी नहीं व्यय की, जो कुछ व्यय किया सब नाम और प्रतिष्ठा पाने के हेतु ।

यम०—प्रतिष्ठा कैसी, धर्म्य और प्रतिष्ठा से क्या संबंध ?

चित्र०—महाराज सर्कार अंगरेज के राज्य में जो उन लोगों के चित्तानुसार उदारता करता है उसको "स्टार आफ इंडिया" की पदवी मिलती है।

यम०—अच्छा ! तो बड़ा ही नीच है, क्या हुआ मैं तो उपस्थित ही हूँ ।

"अंतःप्रच्छन्न पापानां शास्ता वैवस्वतो यमः"

भला पुरोहित के कर्म्म तो सुनाओ ।

चित्र०—महाराज, यह शुद्ध नास्तिक है, केवल दंभ से यज्ञोपवीत पहने है, यह तो इसी श्लोक के अनुरूप है——

अंतः शाक्ता बहिः शैवाः सभामध्ये च वैष्णवाः ।
नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले ॥

इसने शुद्ध चित्त से ईश्वर पर कभी विश्वास नहीं किया, जो-जो पक्ष राजा ने उठाये उसका समर्थन करता रहा और टके-टके पर धर्म्म छोड़-कर इसने मनमानी व्यवस्था दी, दक्षिणा मात्र दे दीजिए फिर जो कहिये उसीमें पण्डितजी की सम्मति है, केवल इधर उधर कमंडलाचार करते इसका जन्म बीता और राजा के संग से मांस मद्य का भी बहुत सेवन किया, सैकड़ों जीव अपने हाथ से बध कर डाले ।

यम०—अरे यह तो बड़ा दुष्ट है, क्या हुआ मुझसे काम पड़ा है, यह बचाजो तो ऐसे ठीक होंगे जैसा चाहिये, अब तुम मंत्रीजी के चरित्र कहो ।

चित्र०—महाराज, मन्त्रीजी की कुछ न पूछिए । इसने कभी स्वामी का भला नहीं किया, केवल चुटकी बजाकर हां में हां मिलाया, मुंह पर स्तुति

पीछे निंदा, अपना घर बनाने से काम, स्वामी चाहे चूल्हे में पड़े, घूस लेते जन्म बीता, मांस और मद्य के बिना इसने न और धर्म्म जाने न कर्म्म जाने—यह मंत्री की व्यवस्था है, प्रजा पर कर लगाने में तो पहले सम्मति दी पर प्रजा के सुख का उपाय एक भी न किया।

यम०—भला ये श्रीगंडकीदासजी आये हैं इनका पवित्र चरित्र पढ़ो कि सुनकर कृतार्थ हों, देखने में तो बड़े लम्बे लम्बे तिलक दिये हैं।

चित्र०—महाराज, ये गुरु लोग हैं, इनके चरित्र कुछ न पूछिये, केवल दंभार्थ इनका तिलक मुद्रा और केवल ठगने के अर्थ इनकी पूजा, कभी भक्ति से मूर्ति को दंडवत् न किया होगा पर मंदिर में जो स्त्रियाँ आईं उनको सर्वदा तकते रहे; महाराज, इन्होंने अनेकों को कृतार्थ किया है और समय तो मैं श्रीरामचंद्रजी का श्रीकृष्ण का दास हूँ पर जब स्त्री सामने आवे तो उससे कहेंगे मैं राम तुम जानकी, मैं कृष्ण तुम गोपी और स्त्रियाँ भी ऐसी मूर्ख कि फिर इन लोगों के पास जाती हैं, हा! महाराज, ऐसे पापी धर्मवंचकों को आप किस नरक में भेजियेगा।

[नेपथ्य में बड़ा कलकल होता है]

यम०—कोई दूत जाकर देखो यह क्या उपद्रव है।

१ दूत—जो आज्ञा। [बाहर जाकर फिर आता है] महाराज, संयमनीपुरी की प्रजा बड़ी दुखी है, पुकार करती है कि ऐसे आज कौन पापी नरक में आए हैं जिनके अंग के वायु से हम लोगों का सिर घूमा जाता है और अंग जलता है। इनको तो महाराज शीघ्र ही नरक में भेजें नहीं तो हम लोगों के प्राण निकल जायँगे!

यम०—सच है, ये ऐसे ही पापी हैं, अभी मैं इनका दंड करता हूँ, कह दो घबड़ायं न।

१ दूत—जो आज्ञा। [बाहर जाकर फिर आता है]

यम०—[राजा से] तुम पर जो दोष ठहराए गए हैं बोल उनका क्या उत्तर देता है।

राजा—[हाथ जोड़कर] महाराज, मैंने तो अपने जान सब धर्म्म ही किया

कोई पाप नहीं किया, जो मांस खाया वह देवता-पितर को चढ़ाकर खाया और देखिए महाभारत में लिखा है कि ब्राह्मणों ने भूख के मारे गोवध करके खा लिया पर श्राद्ध कर लिया था इससे कुछ नहीं हुआ।

यम०--कुछ नहीं हुआ, लगें इसको कोड़े।

२ दूत–जो आज्ञा। [कोड़े मारता है]

राजा–[हाथ से बचा बचाकर] हाय-हाय, दुहाई-दुहाई, सुन लीजिए--

सप्तव्याधा दशार्णेषु मृगाः कालंजरे गिरौ।
चक्रवाकाः शरद्वीपे हंसाः सरसि मानसे॥
तेपि जाताः कुरुक्षेत्रे ब्राह्मणा वेदपारगाः।
प्रस्थिता दीर्घमध्वानं यूयं किमवसीदथ॥

यह वाक्य लोग श्राद्ध के पहिले श्राद्ध शुद्ध होने को पढ़ते हैं फिर मैंने क्या पाप किया। अब देखिए अंगरेजों के राज्य में इतनी गोहिंसा होती है सब हिंदू बीफ खाते हैं उन्हें आप नहीं दंड देते और हाय हमसे धार्म्मिक की यह दशा, दुहाई वेदों की, दुहाई धर्म्म शास्त्र की, दुहाई व्यासजी की, हाय रे, मैं इनके भरोसे मारा गया।

यम०--बस चुप रहो, कोई है ? यह अंधतामिस्र नामक नरक में जायगा। अभी इसको अलग रखो।

१ दूत–जो आज्ञा महाराज। [पकड़ खींचकर एक ओर खड़ा करता है]

यम०–[पुरोहित से] बोल वे ब्राह्मणाधम ! तू अपने अपराधों का क्या उत्तर देता हैं।

पुरो०--[हाथ जोड़कर] महाराज, मैं क्या उत्तर दूंगा, वेद-पुराण सब उत्तर देते हैं।

यम०--लगें कोड़े, दुष्ट वेद पुराण का नाम लेता है।

२ दूत–जो आज्ञा। [कोड़े मारता है]

पुरो०--दुहाई दुहाई, मेरी बात तो सुन लीजिए। यदि मांस खाना बुरा है तो दूध क्यों पीते हैं, दूध भी तो मांस ही है और अन्न क्यों खाते हैं अन्न में भी तो जीव है और वैसे ही सुरापान बुरा है तो वेद में सोमपान क्यों

लिखा है और महाराज, मैंने तो जो बकरे खाए वह जगदंबा के सामने बलि देकर खाए, अपने हेतु कभी हत्या नहीं की और न अपने राजा साहब की भाँति मृगया की। दुहाई, ब्राह्मण व्यर्थ पीसा जाता है। और महाराज, मैं अपनी गवाही के हेतु बाबू राजेंद्रलाल के दोनों लेख देता हूँ, उन्होंने वाक्य और दलीलों से सिद्ध कर दिया है कि मांस की कौन कहे गोमांस खाना और मद्य पीना कोई दोष नहीं, आगे के हिंदू सब खाते-पीते थे। आप चाहिए एशियाटिक सोसाइटी का जर्नल मँगा के देख लीजिए।

यम०—बस चुप, दुष्ट ! जगदंबा कहता है और फिर उसीके सामने उसी जगत् के बकरे को अर्थात् उसके पुत्र ही को बलि देता है। अरे दुष्ट, अपनी अंबा कह, जगदंबा क्यों कहता है, क्या बकरा जगत् के बाहर हैं ? चांडाल सिंह को बलि नहीं देता—"अजापुत्रं बलिं दद्याद् दैवो दुर्बल-घातकः" कोई हैं ? इसको सूचीमुख नामक नरक में डालो। दुष्ट कहीं का वेद पुराण का नाम लेता है। मांस मदिरा खाना पीना है तो यों ही खाने में किसने रोका है धर्म्म को बीच में क्यों डालता है, बाँधो !

२ दूत—जो आज्ञा महाराज (बाँधकर एक ओर खड़ा करता है)।

यम०—(मंत्री से) बोल बे, तू अपने अपराधों का क्या उत्तर देता है ?

मंत्री—(आप ही आप) मैं क्या उत्तर दूँ, यहाँ तो सब बात बेरंग है। इन भयावनी मूर्तियों को देखकर प्राण तो सूखे जाते हैं उत्तर क्या दूँ। हाय हाय, इनके ऐसे बड़े बड़े दाँत हैं कि मुझे तो एक ही कवर कर जायेंगे।

यम०—बोल जल्दी।

३ दूत—(एक कोड़ा मारकर) बोलता है कि नहीं।

मंत्री—(हाथ जोड़कर) महाराज, अभी सोचकर उत्तर देता हूँ। (कुछ सोचकर, चित्रगुप्त से) आप मुझे एक बेर राज्य पर भेज दीजिए, मैंने जितना धन बड़ी बड़ी कठिनाई और बड़े बड़े अधर्म्म से एकत्र किया हैं सब आपको भेंट करूँगा और मैं निरपराधी कुटुंबी हूँ मुझे छोड़ दीजिए।

चित्र०—(क्रोध से) अरे दुष्ट, यह भी क्या मृत्युलोक की कचहरी है कि तू हमें घूस देता है और क्या हम लोग वहाँ के न्यायकर्त्ताओं की भाँति जंगल से

पकड़कर आए हैं कि तुम दुष्टों के व्यवहार नहीं जानते। जहाँ तू आया है और जो गति तेरी है वही घूस लेनेवालों की भी होगी।

यम०—(क्रोध से) क्या यह दुष्ट द्रव्य दिखाता है ? भला रे दुष्ट ! कोई है ? इसको पकड़कर कुंभीपाक में डालो।

३ दूत—जो आज्ञा महाराज। (पकड़कर खींचता है)

यम०—अब आप बोलिए बाबाजी, आप अपने पापों का क्या उत्तर देते हैं ?

गंडकी०—मैं क्या उत्तर दूँगा। पाप पुण्य जो करता है ईश्वर करता है, इसमें मनुष्य का क्या दोष है।

ईश्वरः सर्व्वभूतानां हृद्देशेऽर्ज्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्व्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥

मैं तो आज तक सर्वदा अच्छा ही करता रहा।

यम०—कोई है ? लगें कोड़े दुष्ट को, अब ईश्वर फल भी भुगतैगा। हाय हाय, ये दुष्ट दूसरों की स्त्रियों को माँ और बेटी कहते हैं और लंबा लंबा टीका लगाकर लोगों को ठगते हैं।

४ दूत महाराज, यह किस नरक में जायगा ! (कोड़े मारता है)

गंडकी०—हाय हाय दुहाई, अरे कंठी टीका कुछ काम न आया। अरे कोई नहीं है जो इस समय बचावै।

यम०—यह दुष्ट रौरव नरक में जायगा जहाँ इसको ऐसे ही अनेक धर्म्मवंचक मिलैंगे। ले जाओ सबको।

(चारों दूत चारों को पकड़कर घसीटते और मारते हैं और चारों चिल्लाते हैं)

चारों—अरे "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।"
हाय रे "अग्निष्टोमे पशुमालभेत्।"
अरे बाप रे "सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्।"
भैया रे "श्रोत्रं ते शुंधामि।"

(यही कहकर चिल्लाते हैं और दूत लोग उनको घसीटकर मारते मारते ले जाते हैं)

यम०–(शैव और वैष्णव से) आप लोगों की अकृत्रिम भक्ति से ईश्वर ने आपको कैलास और वैकुंठ वास की आज्ञा दी है सो आप लोग जाइए और अपने सुकृत का फल भोगिए। आप लोगों ने इन धर्म्मवंचकों की दशा तो देखी ही है, देखिए पापियों की यह गति होती है और आपसे सुकृतियों को ईश्वर प्रसन्न होकर सामीप्य मुक्ति देता है सो लीजिए, आप लोगों को परम पद मिला। बधाई है, कहिए इससे भी विशेष कोई आपका हित हो तो मैं पूर्ण करूँ।

शैं० और वैं०–(हाथ जोड़कर) भगवन्, इससे बढ़कर और हम लोगों का क्या हित होगा। तथापि यह नाटकाचार्य्य भरतऋषि का वाक्य सफल हो।

निज स्वारथ को धरम दूर या जग सों होई।
ईश्वर पद मैं भक्ति करैं छल बिनु सब कोई॥
खल के विष-बैनन सों मत सज्जन दुख पावैं।
छुटै राजकर मेघ समय पैं जल बरसावैं॥
कजरी ठुमरिन सों मोड़ि मुख सत कविता सब कोइ कहैं।
यह कवि बानी बुध-बदन में रवि ससि लौं प्रगटित रहै॥

(सब जाते हैं)

(जवनिका गिरती है)

इति चतुर्थोऽङ्कः।

समाप्तं प्रहसनं।

भारतदुर्दैव

१

* भारतदुर्दैव आता है

भारतदु०—कहाँ गया भारत मूर्ख ! जिसको अब भी परमेश्वर और राजराजेश्वरी का भरोसा है ? देखो तो अभी इसकी क्या-क्या दुर्दशा होती है।

(नाचता और गाता हुआ)

अरे !
उपजा ईश्वर कोप से, औ आया भारत बीच।
छार-खार सब हिंद करूँ मैं, तो उत्तम नहिं नीच ॥
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी ॥
कौड़ी-कौड़ी को करूँ, मैं सबको मुहताज।
भूखे प्रान निकालूँ इनका, तो मैं सच्चा राज ॥ मुझे०
काल भी लाऊँ महँगी लाऊँ, और बुलाऊँ रोग।
पानी उलटा कर बरसाऊँ, छाऊँ जग में सोग ॥ मुझे०
फूट बैर औ कलह बुलाऊँ, ल्याऊँ सुस्ती जोर।
घर घर में आलस फैलाऊँ, छाऊँ दुख घनघोर ॥ मुझे०
काफिर काला नीच पुकारूँ, तोड़ूँ पैर औ हाथ।
दूँ इनको संतोष खुशामद, कायरता भी साथ ॥ मुझे०
मरी बुलाऊँ देस उजाड़ूँ, महँगा करके अन्न।
सबके ऊपर टिकस लगाऊँ, धन है मुझको धन्न ॥
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे इक राक्षस मानो जी।

(नाचता है)

अब भारत कहाँ जाता है, ले लिया है। एक तस्सा बाकी है, अबकी हाथ में वह भी साफ है ! भला हमारे बिना और ऐसा कौन कर

---

* क्रूर, आधा क्रिस्तानी आधा मुसलमानी वेष, हाथ में नंगी तलवार लिये।

सकता है कि अँगरेजी अमलदारी में भी हिंदू न सुधरे ! लिया भी तो अँगरेजों से औगुन ! हा हाहा ! कुछ पढ़े लिखे मिलकर देश सुधारा चाहते हैं ! हहा हहा ! एक चने से भाड़ फोड़ेंगे। ऐसे लोगों को दमन करने को मैं जिले के हाकिमों को न हुक्म दूँगा कि इनको डिसलॉयलटी में पकड़ो और ऐसे लोगों को हर तरह से खारिज करके जितना जो वड़ा मेरा मित्र हो उसको उतना बड़ा मेडल और खिताव दो। हैं ! हमारी पालिसी के विरुद्ध उद्योग करते हैं, मूर्ख ! यह क्यों ? मैं अपनी फौज ही भेजके न सब चौपट करता हूँ।

[पर्दा गिरता है]

२

(सात सभ्यों की एक छोटी सी कमेटी; सभापति चक्करदार टोपी पहने, चश्मा लगाये, छड़ी लिये; छः सभ्यों में एक बंगाली, एक महाराष्ट्र, एक अखबार हाथ में लिये एडिटर, एक कवि और दो देशी महाशय)

सभापति–(खड़े होकर) सभ्यगण ! आज की कमेटी का मुख्य उद्देश्य यह है कि भारतदुर्दैव की, सुना है कि, हम लोगों पर चढ़ाई है। इस हेतु आप लोगों को उचित है कि मिलकर ऐसा उपाय सोचिए कि जिससे हम लोग इस भावी आपत्ति से बचें। जहाँ तक हो सके अपने देश की रक्षा करना ही हम लोगों का मुख्य धर्म है। आशा है कि आप सब लोग अपनी-अपनी अनुमति प्रगट करेंगे। (बैठ गए, करतलध्वनि)।

बंगाली–(खड़े होकर) सभापति साहब जो बात बोला सो बहुत ठीक है। इसका पेशतर कि भारतदुर्दैव हम लोगों का शिर पर आ पड़े कोई उसके परिहार का उपाय शोचना अत्यन्त आवश्यक है किन्तु प्रश्न एई है जे हम लोग उसका दमन करने शाकता कि हमारा बीर्ज्जोबल के बाहर का बात है। क्यों नहीं शाकता ? अलबत्त शकेगा, परन्तु जो शब लोग एक मत्त होगा।

(करतलध्वनि) देखो हमारा बंगाल में इसका अनेक उपाय शाधन होते हैं। ब्रिटिश इंडियन असोसिएशन लीग इत्यादि अनेक शमा भी होते हैं। कोई थोड़ा बी बात होता हम लोग मिल के बड़ा गोल करते। गवर्नमेंट तो केवल गोलमाल शे भय खाता। और कोई तरह नहीं शोनता। ओ हुआँ का अखवारवाला सब एक बार ऐसा शोर करता कि गवर्नमेंट को अलबत्त शुनने होता। किंतु हेंयाँ, हम देखते हैं कोई कुछ नहीं बोलता। आज शब आप सभ्य लोग एकत्र हैं, कुछ उपाय इसका अवश्य शोचना चाहिए। (उपवेशन)

प० देशी–(धीरे से) यहीं, मगर जब तक कमेटी में हैं तभी तक। बाहर निकले कि फिर कुछ नहीं !

दू० देशी–(धीरे से) क्यों भाईसाहव, इस कमेटी में आने से कमिश्नर हमारा नाम तो दरबार से खारिज न कर देंगे ?

एडिटर–(खड़े होकर) हम अपने प्राणपण से भारतदुर्दैव को हटाने को तैयार हैं। हमने पहिले भी इस विषय में एक बार अपने पत्र में लिखा था परन्तु यहाँ तो कोई सुनता ही नहीं। अब जब सिर पर आफत आयी तो आप लोग उपाय सोचने लगे। भला अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है जो कुछ सोचना हो जल्द सोचिए। (उपवेशन)

कवि–(खड़े होकर) मुहम्मदशाह से भाँड़ों ने दुश्मन की फौज से बचने का एक वहुत उत्तम उपाय कहा था। उन्होंने बतलाया कि नादिरशाह के मुकावले में फौज न भेजी जाय। जमना किनारे कनात खड़ी कर दी जायँ, कुछ लोग चूड़ी पहिने कनात के पीछे खड़े रहें। जब फौज इस पार उतरने लगे, कनात के बाहर हाथ निकालकर उँगली चमकाकर कहें "मुए इधर न आइयो इधर जनाने हैं।" बस सब दुश्मन हट जायँगे। यही उपाय भारतदुर्दैव से बचने को क्यों न किया जाय।

बंगाली–(खड़े होकर) अलबत्त, यह भी एक उपाय है किंतु असभ्यगण आकर जो स्त्री लोगों का विचार न करके सहसा कनात को आक्रमण करेगा तो ? (उपवेशन)

एडि०–(खड़े होकर) हमने एक दूसरा उपाय सोचा है, एडूकेशन की एक सेना बनायी जाय। कमेटी की फौज। अखबारों के शस्त्र और स्पीचों के गोले मारे जायँ। आप लोग क्या कहते हैं ? (उपवेशन)

दू० देशी–मगर जो हाकिम लोग इससे नाराज हों तो ? (उपवेशन)

बंगाली–हाकिम लोग काहे को नाराज होगा। हम लोग शदा चाहता कि अंगरेजों का राज्य उत्सन्न न हो, हम लोग केवल अपना बचाव करता। (उपवेशन)

महा०–परन्तु इसके पूर्व यह होना अवश्य है कि गुप्त रीति से यह बात जाननी कि हाकिम लोग भारतदुर्दैव की सैन्य से मिल तो नहीं जायँगे।

दू० देशी–इस बात पर बहस करना ठीक नहीं। नाहक कहीं लेने के देने न पड़ें। अपना काम देखिए। (उपवेशन और आप-ही-आप) हाँ, नहीं तो अभी कल ही झाड़बाजी होय।

महा०–तो सार्वजनिक सभा का स्थापना करना। कपड़ा बीनने की कल मँगानी। हिंदुस्तानी कपड़ा पहिनना। यह भी सब उपाय हैं।

दू० देशी–(धीरे से) बनात छोड़कर गज्जी पहिरेंगे, हें हें।

एडि०–परंतु अब समय थोड़ा है जल्दी उपाय सोचना चाहिए।

कवि–अच्छा तो एक उपाय यह सोचो कि सब हिंदू मात्र अपना फैशन छोड़कर कोट-पतलून इत्यादि पहिरें जिसमें जब दुर्दैव की फौज आवे तो हम लोगों को योरोपियन जानकर छोड़ दे।

प० देशी–पर रंग गोरा कहाँ से लावेंगे ?

बंगाली–हमारा देश में भारतउद्धार नामक एक नाटक बना है। उसमें अंगरेजों को निकाल देने का जो उपाय लिखा, सोई हम लोग दुर्दैव का वास्ते काहे न अवलंबन करें। ओ लिखता पाँच जन बंगाली मिल के अँगरेजों को निकाल देगा। उसमें एक तो पिशान लेकर स्वेज का नहर पाट देगा। दूसरा बाँस काट-काट के पिवरी नामक जलयंत्र विशेष बनावेगा। तीसरा उस जलयंत्र से अँगरेजों की आँख में धूर और पानी डालेगा।

महा०–नहीं नहीं, इस व्यर्थ की बात से क्या होना है। ऐसा उपाय करना जिससे फलसिद्धि हो।

प० देशी–(आप-ही-आप) हाय ! यह कोई नहीं कहता कि सब लोग मिलकर एक-चित्त हो विद्या की उन्नति करो, कला सीखो, जिससे वास्तविक कुछ उन्नति हो। क्रमशः सब कुछ हो जायगा।

एडि०–आप लोग नाहक इतना सोच करते हैं, हम ऐसे-ऐसे आर्टिकिल लिखेंगे कि उसके देखते ही दुर्दैव भागेगा।

कवि–और हम ऐसी ही ऐसी कविता करेंगे।

प० देशी–पर उनके पढ़ने का और समझने का अभी संस्कार किसको है ?

(नेपथ्य में से)

भागना मत, अभी मैं आती हूँ।

(सब डरके चौकन्ने-से होकर इधर-उधर देखते हैं)

दू० देशी–(बहुत डरकर) बाबा रे, जब हम कमेटी में चले थे तब पहिले ही छींक हुई थी। अब क्या करें। (टेबुल के नीचे छिपने का उद्योग करता है)।

(डिसलायलटी[1] का प्रवेश)

सभापति–(आगे से ले आकर बड़े शिष्टाचार से) आप क्यों यहाँ तशरीफ लायी हैं ? कुछ हम लोग सर्कार के विरुद्ध किसी प्रकार की सम्मति करने को नहीं एकत्र हुए हैं। हम लोग अपने देश की भलाई करने को एकत्र हुए हैं।

डिसलायलटी–नहीं, नहीं, तुम सब सर्कार के विरुद्ध एकत्र हुए हो, हम तुमको पकड़ेंगे।

बंगाली–(आगे बढ़कर क्रोध से) काहे को पकड़ेगा, कानून कोई वस्तु नहीं है। सर्कार के विरुद्ध कौन बात हम लोग बोला ? व्यर्थ का विभीषिका !

डिस०–हम क्या करें, गवर्नमेंट की पालिसी यही है। कवि-वचन-सुधा नामक पत्र में गवर्नमेंट के विरुद्ध कौन बात थी ? फिर क्यों उसके पकड़ने को हम भेजे गये ? हम लाचार हैं।

---

१. पुलिस की वर्दी पहने।

दू० देशी–(टेबुल के नीचे से रोकर) हम नहीं, हम नहीं, हम तमाशा देखने आये थे।

महा०–हाय-हाय ! यहाँ के लोग बड़े भीरु और कापुरुष हैं। इसमें भय की कौन बात है ! कानूनी है।

सभा०–तो पकड़ने का आपको किस कानून से अधिकार है ?

डिस०–इंगलिश पालिसी नामक ऐक्ट के हाकिमेच्छा नामक दफा से।

महा०–परन्तु तुम ?

दू० देशी–(रोकर) हाय-हाय। भटवा तुम कहता है अब मरे।

महा०–पकड़ नहीं सकतीं, हमको भी दो हाथ दो पैर हैं। चलो हम लोग तुम्हारे संग चलते हैं, सवाल-जवाब करेंगे।

बंगाली–हाँ चलो, ओ का बात––पकड़ने नहीं शेकता।

सभा०–(स्वगत) चेयरमैन होने से पहिले हमी को उत्तर देना पड़ेगा, इसी से किसी बात में हम अगुआ नहीं होते।

डिस०–अच्छा चलो। (सब चलने की चेष्टा करते हैं)।

(यवनिका गिरती है)

अंधेर नगरी

चौपट्ट राजा

टके सेर भाजी टके सेर खाजा

प्रहसन

छेदश्चंदनचूत चंपकवने रक्षा करीर द्रुमे
हिंसा हंस मयूर कोकिलकुले काकेषु लीलारतिः
मातंगेन खरक्रयः समतुला कर्पूरकार्पासयोः
एषा यत्र विचारणा गुणिगणं देशाय तस्मै नमः

समर्पण

माान्ययोग्य नहिं होत कोऊ कोरो पद पाये।
मान्ययोग्य नर ते, जे केवल परहित जाए॥
जे स्वारथ रत धूर्त हंस से काक-चरित-रत।
ते औरन हति बंचि प्रभुहिं नित होंहि समुन्नत॥
जदपि लोक की रीति यही पै अंत धर्मजय।
जौ नाहीं यह लोक तदपि छलियन अति जम भय॥
नर सरीर में रत्न वही जो पर दुख साथी।
खात पियत अरु स्वसत स्वान, मंडुक अरु भाथी॥
तासों अब लौं करो, करो सो, पै अब जागिय।
गो श्रुति भारत देस समुन्नति मैं नित लागिय॥
साँच नाम निज करिय कपट तजि अंत बनाइय।
नृप तारक हरि पद भजि सांच बड़ाई पाइय॥

ग्रंथकार

प्रथम दृश्य

[बाह्य प्रांत]

(महन्त जी दो चेलों के साथ गाते हुए आते हैं।)

सब–राम भजो राम भजो राम भजो भाई।

राम के भजे से गनिका तर गई,
राम के भजे से गीध गति पाई।
राम के नाम से काम बनै सब,
राम के भजन बिनु सबहि नसाई॥
राम के नाम से दोनों नयन बिनु,
सूरदास भए कविकुलराई।
राम के नाम से घास जंगल की,
तुलसी दास भए भजि रघुराई॥

महन्त–बच्चा नारायणदास ! यह नगर तो दूर से बड़ा सुन्दर दिखलाई पड़ता है। देख, कुछ भिच्छा उच्छा मिलै तो ठाकुरजी को भोग लगै। और क्या।

ना० दा०–गुरुजी महाराज ! नगर तो नारायण के आसरे से बहुत ही सुन्दर है जो है सो, पर भिच्छा सुन्दर मिलै तो बड़ा आनन्द होय।

महन्त–बच्चा गोबरधनदास ! तू पच्छिम की ओर से जा और नारायण दास पूरब की ओर जायगा। देख, जो कुछ सीधा सामग्री मिलै तो श्री शालग्राम जी का बालभोग सिद्ध हो।

गो० दा०–गुरुजी ! मैं बहुत सी भिच्छा लाता हूँ। यहाँ लोग तो बड़े मालवर दिखलाई पड़ते हैं। आप कुछ चिंता मत कीजिए।

महन्त–बच्चा, बहुत लोभ मत करणा। देखना, हाँ––

लोभ पाप को मूल है, लोभ मिटावत मान।
लोभ कभी नहीं कीजिए, यामैं नरक निदान॥

(गाते हुए सब जाते हैं)

दूसरा दृश्य

[बाज़ार]

कबाबवाला—कबाब गरमा गरम मसालेदार——चौरासी मसाला बहत्तर आँच का——कबाब गरमा गरम मसालेदार——खाय सो होंठ चाटै, न खाय सो जीभ काटै। कबाब लो, कबाब का ढेर——बेचा टके सेर।

घासीराम—चने जोर गरम——

चने बनावैं घासीराम। जिनकी झोली में दूकान ॥
चना चुरमुर चुरमुर बोलै। बाबू खाने को मुँह खोलै ॥
चना खावै तौकी मैना। बोलै अच्छा बना चबैना ॥
चना खाय गफूरन मुन्ना। बोलै और नहीं कुछ सुन्ना ॥
चना खाते सब बंगाली। जिनकी धोती ढीली ढाली ॥
चना खाते मियाँ जुलाहे। डाढ़ी हिलती गाह बगाहे ॥
चना हाकिम सब जो खाते। सब पर दूना टिकस लगाते ॥

चने जोर गरम——टके सेर।

नरंगीवाली—नरंगी ले नरंगी——सिलहट की नरंगी, बुटवल की नरंगी। रामबाग की नरंगी, आनंदबाग की नरंगी। भई नीबू से नरंगी। मैं तो पिय के रंग न रंगी। मैं तो भूली लेकर संगी। नरंगी ले नरंगी। कंवला नीबू, मीठा नीबू, रंगतरा, संगतरा। दोनों हाथों लो——नहीं पीछे हाथ ही मलते रहोगे। नरंगी ले नरंगी। टके सेर नरंगी।

हलवाई—जलेबियाँ गरमा गरम। ले सेव इमरती लड्डू गुलाबजामुन खुरमा बुंदिया बरफी समोसा पेड़ा कचौड़ी दालमोट पकौड़ी घेवर गुपचुप। हलुआ हलुआ ले हलुआ मोहनभोग। मोयनदार कचौड़ी कचाका हलुआ नरम चभाका। घी में गरक चीनी में तरातर चासनी में चभाचभ। ले भूरे का लड्डू। जो खाय सो भी पछताय जो न खाय सो भी पछताय। रेवड़ी कड़ाका। पापड़ पड़ाका। ऐसी जात हलवाई जिस के छत्तिस कौम हैं भाई। जैसे कलकत्ते के विलसन मन्दिर के भीतरिए, वैसे अंधेर नगरी के हम। सब सामान ताजा। खाजा ले खाजा। टके सेर खाजा।

कुंजड़िन—ले धनीया मेथी सोआ पालक चौराई बथुआ करेमूं नोनियाँ कुलफा कसारी चना सरसों का साग । मरसा ले मरसा । ले बैंगन लौआ कोहड़ा आलू अरुई वण्डा नेनुआँ सूरन रामतरोई तरोई मुरई । ले आदी मिरचा लहसुन पियाज टिकोरा । ले फालसा खिरनी आम अमरूद निबुआ मटर होरहा । जैसे काजी वैसे पाजी, रैयत राजी टके सेर भाजी । ले हिन्दुस्तान का मेवा फूट और वैर ।

मुगल—वादाम पिस्ते अखरोट अनार विहीदाना मुनक्का किशमिश अंजीर आवजोश आलूबोखारा चिलगोजा सेव नाशपाती विही सरदा अंगूर का पिटारी । आमारा ऐसा मुल्क जिसमें अंगरेज का भी दाँत कट्टा ओ गेया । नाहक को रुपया खराव किया । हिन्दोस्तान का आदमी लक लक हमारे यहाँ का आदमी बुंबक बुंबक । लो सब मेवा टके सेर ।

पाचकवाला—

चूरन अमल बेद का भारी । जिस को खाते कृष्ण मुरारी ॥
मेरा पाचक है पचलोना । जिस को खाता श्याम सलोना ॥
चूरन बना मसालेदार । जिस में खट्टे की बहार ॥
मेरा चूरन जो कोइ खाय । मुझ को छोड़ कहीं नहि जाय ॥
हिन्दू चूरन इसका नाम । विलायत पूरन इसका काम ॥
चूरन जब से हिन्द में आया । इसका धन बल सभी घटाया ॥
चूरन ऐसा हट्टा कट्टा । कीना दाँत सभी का खट्टा ॥
चूरन चला डाल की मंडी । इसको खाएँगी सब रंडी ॥
चूरन अमले सब जो खावैं । दूनी रुशवत तुरत पचावैं ॥
चूरन नाटकवाले खाते । इसकी नकल पचा कर लाते ॥
चूरन सभी महाजन खाते । जिस से जमा हजम कर जाते ॥
चूरन खाते लाला लोग । जिन को अकिल अजीरन रोग ॥
चूरन खावै एडिटर जात । जिन के पेट पचै नहि बात ॥
चूरन साहेब लोग जो खाता । सारा हिन्द हजम कर जाता ॥
चूरन पूलिसवाले खाते । सब कानून हजम कर जाते ॥
ले चूरन का ढेर, बेचा टके सेर ।

मछलीवाली–मछरी ले मछरी ।

मछरिया एक टके कै बिकाय ।
लाख टका के बाला जोबन, गाँहक सब ललचाय ।
नैन मछरिया रूप जाल में, देखत ही फँसि जाय ।
बिनु पानी मछरी सो बिरहिया, मिले बिना अकुलाय ॥

जातवाला (ब्राह्मण)–जात ले जात, टके सेर जात । एक टका दो, हम अभी अपनी जात बेचते हैं । टके के वास्ते ब्राह्मण से धोबी हो जायँ और धोबी को ब्राह्मण कर दें, टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दें । टके के वास्ते झूठ को सच करैं । टके के वास्ते ब्राह्मण से मुसलमान, टके के वास्ते हिन्दू से क्रिस्तान । टके के वास्ते धर्म्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचैं, टके के वास्ते झूठी गवाही दें । टके के वास्ते पाप को पुण्य मानैं, टके के वास्ते नीच को भी पितामह बनावैं । वेद धर्म्म कुल मरजादा सचाई बड़ाई सब टके सेर । लुटाय दिया अनमोल माल ले टके सेर ।

बनियाँ–आटा दाल लकड़ी नमक घी चीनी मसाला चावल ले टके सेर ।

(बाबाजी का चेला गोबर्धनदास आता है और सब बेचनेवालों की आवाज सुन-सुनकर खाने के आनंद में बड़ा प्रसन्न होता है ।)

गो० दा०–क्यों भाई बणिये, आंटा कितणे सेर ?

बनियाँ–टके सेर ।

गो० दा०–औ चावल ?

बनियाँ–टके सेर ।

गो० दा०–औ घी ?

बनियाँ–टके सेर ।

गो० दा०–सब टके सेर । शच मुच ।

बनियाँ–हाँ महाराज, क्या झूठ बोलूंगा ?

गो० दा०–(कुंजड़िन के पास जाकर) क्यों भाई, भाजी क्या भाव ?

कुंजड़िन–बाबाजी, टके सेर। निनुआँ मुरई धनियाँ मिरचा साग सब टके सेर।

गो० दा०––सब भाजी टके सेर ! वाह वाह ! बड़ा आनंद है। यहाँ सभी चीज टके सेर। (हलवाई के पास जाकर) क्यों भाई हलवाई ! मिठाई कितने सेर ?

हलवाई––बाबाजी ! लड्आ हलुआ जलेबी गुलाबजामुन खाजा सब टके सेर।

गो० दा०––वाह ! वाह !! बड़ा आनंद हैं। क्यों बच्चा, मुझसे मसखरी तो नहीं करता ? शचमुच सब्र टके सेर ?

हलवाई––हाँ बाबाजी, शचमुच सब्र टके सेर। इस नगरी की चाल ही यही है। यहाँ सब चीज टके सेर बिकती है।

गो० दा०–क्यों बच्चा ! इस नगरी का नाम क्या है ?

हलवाई––अंधेर नगरी।

गो० दा०––और राजा का क्या नाम है ?

हलवाई––चौपट्ट राजा।

गो० दा०––वाह ! वाह ! अंधेर नगरी चौपट्ट राजा, टका सेर भाजी टका सेर खाजा (यही गाता है और आनंद से बगल बजाता है)।

हलवाई––तो बाबाजी, कुछ लेना देना हो तो लो दो।

गो० दा०––बच्चा, भिक्षा माँगकर सात पैसे लाया हूँ। साढ़े तीन सेर मिठाई दे दे, गुरु चेले सब आनंदपूर्वक इतने में छक जायेंगे।

(हलवाई मिठाई तौलता है––बाबाजी मिठाई लेकर खाते हुए और अंधेर नगरी गाते हुए जाते हैं।

(पटाक्षेप)

तीसरा दृश्य

[स्थान-जंगल]

(महन्तजी और नारायणदास एक ओर से "राम भजो" इत्यादि गाते हुए आते हैं और एक ओर से गोबर्धनदास अंधेर नगरी गाते हुए आते हैं)

महन्त--वच्चा गोवर्धन दास ! कह, क्या भिक्षा लाया ? गठरी तो भारी मालूम पड़ती है।

गो० दा०--बाबाजी महाराज ? बड़े माल लाया हूँ, साढ़े तीन सेर मिठाई है।

महन्त--देखूं बच्चा ! (मिठाई की झोली अपने सामने रखकर खोलकर देखता है) वाह ! वाह ! वच्चा ! इतनी मिठाई कहाँ से लाया। किस धर्मात्मा से भेंट हुई ?

गो० दा०--गुरुजी महाराज ! सात पैसे भीख में मिले थे, उसी से इतनी मिठाई मोल ली है।

महन्त--वच्चा ! नारायणदास ने मुझसे कहा था कि यहाँ सब चीज टके सेर मिलती है, तो मैंने इसकी बात का विश्वास नहीं किया। बच्चा, यह कौन सी नगरी हैं और इसका कौन सा राजा है, जहाँ टके सेर भाजी और टके ही सेर खाजा है।

गो० दा०--अंधेर नगरी चौपट्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।

महन्त--तो बच्चा ! ऐसी नगरी में रहना उचित नहीं है, जहाँ टके सेर भाजी और टके ही सेर खाजा हो।

दोहा--सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास।
ऐसे देस कुदेस में, कबहुँ न कीजै बास ॥
कोकिल बायस एक सम, पंडित मूरख एक।
इंद्रयान दाड़िम विषय, जहाँ न नेकु बिबेक ॥
बसिये ऐसे देस नहिं, कनक वृष्टि जो होय।
रहिये तो दुख पाइये, प्रान दीजिये रोय ॥

सो बच्चा चलो यहाँ से। ऐसी अंधेर नगरी में हजार मन मिठाई मुफ्त की मिलै तो किस काम की ? यहाँ एक छन नहीं रहना।

गो० दा०--गुरुजी, ऐसा तो संसार भर में कोई देश ही नहीं है। दो पैसा पास रहने ही से मजे में पेट भरता है। मैं तो इस नगर को छोड़कर नहीं जाऊँगा। और जगह दिन भर माँगो तो भी पेट नहीं भरता। वरंच बाजे बाजे दिन उपास करना पड़ता है। सो मैं तो यहीं रहूँगा।

महंत--देख बच्चा, पीछे पछतायेगा।

गो० दा०--आप की कृपा से कोई दुख न होगा; मैं तो यही कहता हूँ कि आप भी यहीं रहिये।

महंत--मैं तो इस नगर में अब एक क्षण भर नहीं रहूँगा। देख, मेरी बात मान, नहीं पीछे पछतायेगा। मैं तो जाता हूँ, पर इतना कहे जाता हूँ कि कभी संकट पड़ै तो हमारा स्मरण करना।

गो० दा०--प्रणाम गुरुजी, मैं आपका नित्य ही स्मरण करूँगा। मैं तो फिर भी कहता हूँ कि आप भी यहीं रहिए।

(महंतजी नारायणदास के साथ जाते हैं, गोबर्धनदास बैठकर मिठाई खाता है।)

पटाक्षेप

•

चौथा दृश्य

[राजसभा]

(राजा, मंत्री और नौकर लोग यथास्थान स्थित हैं)

पहला सेवक--(चिल्लाकर) पान खाइए महाराज।

राजा--(पीनक से चौंक के घबड़ाकर उठता है) क्या कहा ? सुपनखा आई ए महाराज। (भागता है।)

मंत्री–(राजा का हाथ पकड़कर) नहीं नहीं, यह कहता है कि पान खाइए महाराज।

राजा–दुष्ट लुच्चा पाजी ! नाहक हमको डरा दिया। मंत्री इसको सौ कोड़े लगैं।

मन्त्री–महाराज ! इसका क्या दोष है ? न तमोली पान लगाकर देता, न यह पुकारता।

राजा–अच्छा, तमोली को दो सौ कोड़े लगैं।

मंत्री–पर महाराज, आप 'पान खाइए' सुनकर थोड़े ही डरे हैं, आप तो सुपनखा के नाम से डरे हैं, सुपनखा की सजा हो।

राजा–(घबड़ाकर) फिर वही नाम ? मंत्री, तुम बड़े खराब आदमी हो। हम रानी से कह देंगे कि मंत्री बेर बेर तुम को सौत बुलाना चाहता है। नौकर ! नौकर ! शराब—

दूसरा सेवक–(एक सुराही में से एक गिलास में शराब उझलकर देता है) लीजिये महाराज। पीजिए महाराज।

राजा–(मुँह बनाकर पीता है) और दे।

(नेपथ्य में—दुहाई है दुहाई—का शब्द होता है।)

राजा–कौन चिल्लाता है—पकड़ लाओ।

(दो नौकर एक फर्यादी को पकड़ लाते हैं।)

फ०–दोहाई है महाराज दोहाई है। हमारा न्याव होय।

राजा–चुप रहो। तुम्हारा न्याव यहाँ ऐसा होगा कि जैसा जम के यहाँ भी न होगा—बोलो क्या हुआ ?

फ०–महाराज ! कल्लू बनियाँ की दीवार गिर पड़ी सो मेरी बकरी उसके नीचे दब गई। दोहाई है महाराज न्याव हो।

राजा–(नौकर से) महाराज ! कल्लू बनियाँ की दीवार को अभी पकड़ लाओ।

मंत्री–महाराज, दीवार नहीं लाई जा सकती।

राजा–अच्छा, उसका भाई, लड़का, दोस्त, आशना जो हो उसको पकड़ लाओ।

मंत्री–महाराज ! दीवार ईंट चूने की होती है, उसको माई–बेटा नहीं होता।

राजा–अच्छा, कल्लू बनिये को पकड़ लाओ। (नौकर लोग दौड़कर बाहर से बनिये को पकड़ लाते हैं।) क्यों बे बनिए ? इसकी लरकी, नहीं बरकी क्यों दबकर मर गई ?

मंत्री–बरकी नहीं महाराज बकरी।

राजा–हाँ हाँ, बकरी क्यों मर गई––बोल, नहीं अभी फाँसी देता हूँ।

कल्लू–महाराज ! मेरा कुछ दोष नहीं। कारीगर ने ऐसी दीवार बनाया कि गिर पड़ी।

राजा–अच्छा, इस मल्लू को छोड़ दो, कारीगर को पकड़कर लाओ। (कल्लू जाता है, लोग कारीगर को पकड़कर लाते हैं।) क्यों बे कारीगर ! इसकी बकरी किस तरह मर गई ?

कारीगर–महाराज, मेरा कुछ कसूर नहीं, चूनेवाले ने ऐसा बोदा बनाया कि दीवार गिर पड़ी।

राजा–अच्छा, इस कारीगर को बुलाओ, नहीं नहीं निकालो, उस चूनेवाले को बुलाओ। (कारीगर निकाला जाता है, चूनेवाला पकड़कर लाया जाता है) क्यों बे खैर सुपाड़ी चूने वाले ! इसकी कुवरी कैसे मर गई ?

चूनेवाला–महाराज ! मेरा कुछ दोष नहीं; भिश्ती ने चूने में पानी ढेर दे दिया, इसी से चूना कमजोर हो गया होगा।

राजा–अच्छा, चुन्नीलाल को निकालो, भिश्ती को पकड़ो। (चूनेवाला निकाला जाता है, भिश्ती लाया जाता है।) क्यों बे भिश्ती ! गंगा जमुना की किश्ती ! इतना पानी क्यों दिया कि इसकी बकरी गिर पड़ी और दीवार दब गई ?

भिश्ती–महाराज ! गुलाम का कोई कसूर नहीं। कस्साई ने मसक इतनी बड़ी बना दिया कि उस में पानी जादे आ गया।

राजा–अच्छा, कस्साई को लाओ, भिश्ती निकालो। (लोग भिश्ती को निकालते हैं और कस्साई को लाते हैं।) क्यों बे कस्साई, मशक ऐसी क्यों बनाई कि दीवार लगाई बकरी दबाई ?

कस्साई–महाराज ! गड़ेरिया ने टके पर ऐसी बड़ी भेंड़ मेरे हाथ वेंची कि उस की मशक बड़ी बन गई।

राजा–अच्छा, कस्साई को निकालो, गड़ेरिये को लाओ। (कस्साई निकाला जाता है, गड़ेरिया आता है।) क्यों वे ऊखपौड़े के गड़ेरिया! ऐसी वड़ी भेंड़ क्यों वेचा कि बकरी मर गई ?

गड़ेरिया–महाराज! उधर से कोतवाल साहब की सवारी आई, सो उस के देखने में मैंने छोटी बड़ी भेंड़ का खयाल नहीं किया, मेरा कुछ कसूर नहीं।

राजा–अच्छा, इसको निकालो, कोतवाल को अभी सरव मुहर पकड़ लाओ। (गड़ेरिया निकाला जाता है, कोतवाल पकड़ा जाता है।) क्यों वे कोतवाल, तैं ने सवारी ऐसी धूम से क्यों निकाली कि गड़ेरिये ने घबड़ाकर वड़ी भेंड़ बेचा, जिससे बकरी गिरकर कल्लू बनियाँ दब गया ?

कोतवाल–महाराज महाराज! मैंने तो कसूर नहीं किया, मैं तो शहर के इन्तजाम के वास्ते जाता था।

मंत्री–(आप ही आप) यह तो बड़ा गजब हुआ, ऐसा न हो कि वह वेवकूफ इस बात पर सारे नगर को फूंक दे या फाँसी दे। (कोतवाल से) यह नहीं, तुमने ऐसे धूम से सवारी क्यों निकाली ?

राजा–हाँ, हाँ, यह नहीं, तुमने ऐसे धूम से सवारी क्यों निकाली कि उस की बकरी दबी।

कोतवाल–महाराज महाराज—

राजा–कुछ नहीं, महाराज महाराज। ले जाओ, कोतवाल को अभी फाँसी दो। दरवार बरखास्त।

(लोग एक तरफ से कोतवाल को पकड़कर ले जाते हैं, दूसरी ओर से मंत्री को पकड़ कर राजा जाते हैं।)

(पटाक्षेप)

पाँचवाँ दृश्य

[अरण्य]

(गोबर्धनदास गाते हुए आते हैं ।)

राग काफी

अंधेर नगरी अनबूझ राजा । टका सेर भाजी टका सेर खाजा ॥
नीच ऊँच सब एकहि ऐसे । जैसे भडुए पण्डित तैसे ॥
कुल मरजाद न मान बड़ाई । सबै एक से लोग लुगाई ॥
जात पाँत पूछै नहिं कोई । हरि को भजै सो हरि को होई ॥
वेश्या जोरू एक समाना । बकरी गऊ एक करि जाना ॥
साँचे मारे मारे डोलैं । छली दुष्ट सिर चढ़ि चढ़ि बोलैं ॥
प्रगट सभ्य अन्तर छलधारी । सोई राजसभा बलभारी ॥
साँच कहैं ते पनही खावैं । झूठे बहु बिधि पदवी पावैं ॥
छलियन के एका के आगे । लाख कहौ एकहु नहिं लागे ॥
भीतर होइ मलिन की कारो । चहिये बाहर रँग चटकारो ॥
धर्म अधर्म एक दरसाई । राजा करै सो न्याव सदाई ॥
भीतर स्वाहा बाहर सादे । राज करहिं अमले अरु प्यादे ॥
अन्धाधुन्ध मच्यौ सब देसा । मानहुँ राजा रहत बिदेसा ॥
गो द्विज श्रुति आदर नहिं होई । मानहुँ नृपति बिधर्म्मी कोई ॥
ऊँच नीच सब एकहि सारा । मानहुँ ब्रह्म ज्ञान बिस्तारा ॥
अंधेर नगरी अनबूझ राजा । टका सेर भाजी टका सेर खाजा ॥

(बैठकर मिठाई खाता है)

गुरुजी ने हम को नाहक यहाँ रहने को मना किया था । माना कि देस बहुत बुरा है । पर अपना क्या ? अपने किसी राजकाज में थोड़े हैं कि कुछ डर है, रोज मिठाई चाभना, मजे में आनन्द से रामभजन करना ।

(मिठाई खाता है)

(चार प्यादे चार ओर से आकर उसको पकड़ लेते हैं)

१ प्या०–चल बे चल, बहुत मिठाई खाकर मुटाया है। आज पूरी हो गई।

२ प्या०–बाबाजी चलिए, नमोनारायन कीजिये।

गो० दा०–(घबड़ाकर) हैं! यह आफत कहाँ से आई! अरे भाई, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है जो मुझको पकड़ते हौ?

१ प्या०–आप ने बिगाड़ा है या बनाया है इससे क्या मतलब? अब चलिए। फाँसी चढ़िए।

गो० दा०–फाँसी! अरे बाप रे बाप फाँसी!! मैंने किसकी जमा लूटी है कि मुझको फाँसी! मैंने किसके प्राण मारे कि मुझको फाँसी!

२ प्या०–आप बड़े मोटे हैं, इस वास्ते फाँसी होती है।

गो० दा०–मोटे होने से फाँसी? यह कहाँ का न्याय है! अरे, हँसी फकीरों से नहीं करनी होतीं।

१ प्या०–जब सूली चढ़ लीजिएगा तब मालूम होगा कि हँसी है कि सच। सीधी राह से चलते हौ कि घसीटकर ले चलें?

गो० दा०–अरे बाबा, क्यों बेकसूर का प्राण मारते हौ? भगवान के यहाँ क्या जवाब दोगे?

१ प्या०–भगवान को जवाब राजा देगा। हमको क्या मतलब। हम तो हुक्मी बन्दे हैं।

गो० दा०–तब भी बाबा बात क्या है कि हम फकीर आदमी को नाहक फाँसी देते हौ?

१ प्या०–बात यह है कि कल कोतवाल को फाँसी का हुकुम हुआ था। जब फाँसी देने को उसको ले गए, तो फाँसी का फन्दा बड़ा हुआ, क्योंकि कोतवाल साहब दुबले हैं। हम लोगों ने महाराज से अर्ज किया, इस पर हुक्म हुआ कि एक मोटा आदमी पकड़कर फाँसी दे दो, क्योंकि बकरी मारने के अपराध में किसी न किसी की सजा जरूर है, नहीं तो न्याव न होगा। इसी वास्ते तुमको ले जाते हैं कि कोतवाल के बदले तुम को फाँसी दें।

गो० दा०–तो क्या और कोई मोटा आदमी इस नगर भर में नहीं मिलता जो मुझ अनाथ फकीर को फाँसी देते हैं?

१ प्या०—इसमें दो बात हैं—एक तो नगर भर में राजा के न्याव के डर से कोई मुटाता ही नहीं, दूसरे और किसी को पकड़ें तो वह न जानैं क्या बात बनावै कि हमी लोगों के सिर कहीं न घहराय और फिर इस राज में साधु महात्मा इन्हीं लोगों की तो दुर्दशा है, इससे तुम्हीं को फाँसी देंगे।

गो० दा०—दुहाई परमेश्वर की। अरे, मैं नाहक मारा जाता हूँ! अरे यहाँ बड़ा ही अंधेर है, अरे गुरुजी महाराज का कहा मैंने न माना उसका फल मुझको भोगना पड़ा। गुरुजी कहाँ हौ! आओ, मेरे प्राण बचाओ, अरे मैं बेअपराध मारा जाता हूँ! गुरुजी गुरुजी।

(गोवर्धनदास चिल्लाता है, प्यादे लोग उसको पकड़कर ले जाते हैं)

(पटाक्षेप)

●

छठा दृश्य

[स्थान—श्मशान]

(गोबर्धनदास को पकड़े हुए चार सिपाहियों का प्रवेश)

गो० दा०—हाय बाप रे! मुझे बेकसूर ही फाँसी देते हैं। अरे भाइयो, कुछ तो धरम विचारो! अरे मुझ गरीब को फाँसी देकर तुम लोगों को क्या लाभ होगा? अरे मुझे छोड़ दो। हाय! हाय! (रोता है और छुड़ाने का यत्न करता है)

१ सिपाही—अबे, चुप रह—राजा का हुकुम भला कहीं टल सकता है? यह तेरा आखरी दम हैं, राम का नाम ले—बेफाइदा क्यों शोर करता है? चुप रह।

गो० दा०—हाय! मैंने गुरुजी का कहना न माना, उसी का यह फल है। गुरुजी ने कहा था कि ऐसे नगर में न रहना चाहिये, यह मैंने न सुना! अरे! इस नगर का नाम ही अंधेर नगरी और राजा का नाम चौपट्ट है, तब बचने की

कौन आशा है। अरे ! इस नगर में ऐसा कोई धर्मात्मा नहीं है जो इस फकीर को बचावै। गुरुजी ! कहाँ हो ? बचाओ–गुरुजी–गुरुजी–

(रोता है, सिपाही लोग उसे घसीटते हुए ले चलते हैं।)

(गुरुजी और नारायणदास आते हैं)

गुरु–अरे बच्चा गोवर्धनदास ! तेरी यह क्या दशा है ?

गो० दा०–(गुरु को हाथ जोड़कर) गुरुजी ! दीवार के नीचे बकरी दब गई, सो इसके लिये मुझे फाँसी देते हैं, गुरुजी बचाओ।

गुरु–अरे बच्चा ! मैंने तो पहिले ही कहा था कि ऐसे नगर में रहना ठीक नहीं; तैंने मेरा कहना नहीं सुना।

गो० दा०–मैंने आपका कहा नहीं माना, उसी का यह फल मिला। आपके सिवा अब ऐसा कोई नहीं है जो रक्षा करै। मैं आप ही का हूँ, आपके सिवा और कोई नहीं (पैर पकड़कर रोता है)।

महंत–कोई चिन्ता नहीं, नारायण सब समर्थ है। (भौं चढ़ाकर सिपाहियों से) सुनो, मुझको अपने शिष्य को अन्तिम उपदेश देने दो, तुम लोग तनिक किनारे हो जाओ। देखो, मेरा कहना न मानोगे तो तुम्हारा भला न होगा।

सिपाही–नहीं महाराज, हम लोग हट जाते हैं। आप बेशक उपदेश कीजिए।

(सिपाही हट जाते हैं। गुरुजी चेले के कान में कुछ समझाते हैं।)

गो० दा०–(प्रगट) तब तो गुरुजी हम अभी फाँसी चढ़ेंगे।

महंत–नहीं बच्चा, मुझको चढ़ने दे।

गो० दा०–नहीं गुरुजी, हम फाँसी पड़ेंगे।

महंत–नहीं बच्चा हम। इतना समझाया नहीं मानता, हम बूढ़े भए, हमको जाने दे।

गो० दा०–स्वर्ग जाने में बूढ़ा जवान क्या ? आप तो सिद्ध हो, आपको गति अगति से क्या ? मैं फाँसी चढ़ूंगा।

(इसी प्रकार दोनों हुज्जत करते हैं–सिपाही लोग परस्पर चकित होते हैं।)

१ सिपाही–भाई ! यह क्या माजरा है, कुछ समझ नहीं पड़ता।

२ सिपाही–हम भी नहीं समझ सकते कि यह कैसा गबड़ा है।

(राजा, मन्त्री कोतवाल आते हैं)

राजा–यह क्या गोलमाल है ?

१ सिपाही–महाराज ! चेला कहता है मैं फाँसी पड़ूंगा, गुरु कहता है मैं पड़ूंगा; कुछ मालूम नहीं पड़ता कि क्या बात है।

राजा–(गुरु से) बाबाजी ! बोलो। काहे को आप फाँसी चढ़ते हैं ?

महन्त–राजा ! इस समय ऐसा साइत है कि जो मरेगा सीधा बैकुण्ठ जायगा।

मन्त्री–तब तो हमी फाँसी चढ़ेंगे।

गो० दा०–हम हम। हमको तो हुकुम है।

कोतवाल–हम लटकेंगे। हमारे सबब तो दीवार गिरी।

राजा–चुप रहो, सब लोग, राजा के आछत और कौन बैकुण्ठ जा सकता है। हमको फाँसी चढ़ाओ, जल्दी, जल्दी।

महन्त–जहाँ न धर्म्म न बुद्धि नहिं, नीति न सुजन समाज।
ते ऐसहि आपुहि नसे, जैसे चौपटराज॥

(राजा को लोग टिकठी पर खड़ा करते हैं।)

(पटाक्षेप)

॥ इति ॥

श्रीचंद्रावली नाटिका

काव्य, सुरस सिंगार के दोउ दल, कविता नेम।
जन जन सों कै ईस सों कहियत जेहि पर प्रेम ।।
हरि उपासना, भक्ति, वैराग, रसिकता, ज्ञान।
सोधैं जग जन मानि या चंद्रावलिहि प्रमान ।।

समर्पण

प्यारे !

लो तुम्हारी चंद्रावली तुम्हें समर्पित है। अंगीकार तो किया ही है इस पुस्तक को भी उन्हीं की कानि से अंगीकार करो। इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार में प्रचलित है। हाँ एक अपराध तो हुआ जो अवश्य क्षमा करना ही होगा। वह यह कि प्रेम की दशा छापकर प्रसिद्ध की गई। वा प्रसिद्ध करने ही से क्या, जो अधिकारी नहीं है उनके समझ ही में न आवैगा।

तुम्हारी कुछ विचित्र गति है। हमी को देखो। जब अपराधों को स्मरण करो तब ऐसे कि कुछ कहना ही नहीं। क्षण भर जीने के योग्य नहीं। पृथ्वी पर पैर धरने को जगह नहीं। मुँह दिखाने के लायक नहीं। और जो यों देखो तो ये लंबे लंबे मनोरथ। यह बोलचाल। यह ढिठाई कि तुम्हारा सिद्धांत कह डालना। जो हो इस दूध खटाई की एकत्र स्थिति का कारण तुम्हीं जानो। इसमें कोई संदेह नहीं कि जैसे हों तुम्हारे बनते हैं। अतएव क्षमासमुद्र ! क्षमा करो। इसी में निर्व्वाह है। बस--

भाद्रपद कृष्ण १४ }
सं० १९३३ }

हरिश्चंद्र

स्थान–रगशाला

[ब्राह्मण आशीर्वाद पाठ करता हुआ आया।]

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अलौकिक घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥ १॥

[और भी]

नेति नेति तत् शब्द प्रतिपाद्य सर्व्व भगवान।
चंद्रावली चकोर श्रीकृष्ण करौ कल्यान॥ २॥

[सूत्रधार आता है]

सू०–बस बस बहुत बढ़ाने का कुछ काम नहीं ? मारिष मारिष दौड़ो दौड़ो, आज ऐसा अच्छा अवसर फिर न मिलैगा, हम लोग अपना गुण दिखाकर आज निश्चय कृतकृत्य होंगे।

[पारिपार्श्वक आकर]

पा०–कहो कहो, आज क्यौं ऐसे प्रसन्न हो रहे हो ? कौन सा नाटक करने का विचार है और उसमें ऐसा कौन सा रस है कि फूले नहीं समाते ?

सू०–आः तुमने अब तक न जाना ? आज मेरा विचार है कि इस समय के बने एक नये नाटक की लीला करूँ क्यौंकि संस्कृत नाटकों को अपनी भाषा में अनुवाद करके तो हम लोग अनेक बार खेल चुके हैं फिर बारंबार उन्हीं के खेलने को जी नहीं चाहता।

पा०–तुमने बात तो बहुत अच्छी सोची, वाह क्यौं न हो, पर यह तो कहो कि वह नाटक बनाया किसने है ?

सू०–हम लोगों के परम मित्र हरिश्चंद्र ने।

पा०–(मुँह फेरकर) किसी समय तुम्हारी बुद्धि में भी भ्रम हो जाता है। भला वह नाटक बनाना क्या जानै। वह तो केवल आरंभशूर है और अनेक बड़े बड़े कवि हैं, कोई उनका प्रबंध खेलते ?

सू०—(हँसकर) इसमें तुम्हारा दोष नहीं, तुम तो उससे नित्य नहीं मिलते, जो लोग उसके संग में रहते हैं वे तो उसको जानते ही नहीं तुम बिचारे क्या हौ !

पा०—(आश्चर्य से) हाँ मैं तो जानता ही न था, भला कहो उनके दो चार गुण मैं भी सुन सकता हूँ ।

सू०—क्यों नहीं, पर जो श्रद्धा से सुनो तो ।

पा०—मैं प्रति रोम को कर्ण बनाकर महाराज पृथु हो रहा हूँ, आप कहिए ।

सू०—(आनंद से) सुनो—

परम प्रेम निधि रसिक बर, अति उदार गुन खान ।
जग जन रंजन आशु कबि, को हरिचंद समान ।। ३ ।।
जिन श्री गिरिधरदास कबि, रचे ग्रंथ चालीस ।
ता सुत श्री हरिचंद को, को न नवावै सीस ।। ४ ।।
जग जिन तृन सम करि तज्यौ, अपने प्रेम प्रभाव ।
करि गुलाव सो आचमन, लीजत वाको नाँव ।। ५ ।।
चंद टलैं सूरज टलैं, टलैं जगत के नेम ।
यह दृढ़ श्री हरिचंद को टलै न अविचल प्रेम ।। ६ ।।

पा०—वाह वाह ! मैं ऐसा नहीं जानता था, तब तो इस प्रयोग में देर करनी ही भूल है ।

[नेपथ्य में]

श्रवन सुखद भव भय हरन त्यागिन कों अत्याग ।
नष्ट जीव बिनु कौन हरि गुन सों करै विराग ।। ७ ।।
हम सौंहू तजि जात नहि, परम पुन्य फल जौन ।
कृष्ण कथा सौं मधुर तर, जग मैं माखौ कौन ।। ८ ।।

सू०—(सुनकर आनंद से) आहा ! वह देखो मेरा प्यारा छोटा भाई शुकदेवजी बनकर रंगशाला में आता है और हम लोग बातों ही से नहीं सुलझे । तो अब मारिष ! चलो, हम लोग भी अपना अपना वेष धारण करैं ।

पा०—क्षण भर और ठहरो मुझे शुकदेवजी के इस वेष की शोभा देख लेने दो तब चलूंगा ।

सू०—सच कहा, अहा कैसा सुंदर वना है, वाह मेरे भाई वाह। क्यौं न हो आखिर तो मुझ रंगरंज का भाई है।

अति कोमल सब अंग रंग सांवरो सलोना।
घूंघर वाले वालन पै बलि वारौं टोना॥
भुज विसाल मुख चंद झलमले नैंन लजौंहैं।
जुग कमान सी खिचौं गड़त हिय में दोउ भौंहैं॥
छबि लखत नैंन छिन नहिं टरत शोभा नहिं कहि जात है।
मनु प्रेमपुंज ही रूप धरि आवत आजु लखात है॥ ९॥

[दोनों जाते हैं]

इति प्रस्तावना

अथ विष्कम्भक

[आनंद में भूलते हुए डगमगी चाल से शुकदेवजी आते हैं]

शु०—(श्रवन सुखद इत्यादि फिर से पढ़कर) अहा संसार के जीवों की कैसी विलक्षण रुचि है, कोई नेम धर्म्म में चूर है, कोई ज्ञान के ध्यान में मस्त, कोई मत मतांतर के झगड़े में मतवाला हो रहा है, एक दूसरे को दोष देता है, अपने को अच्छा समझता है, कोई संसार को ही सर्वस्व मानकर परमार्थ से चिढ़ता है, कोई परमार्थ ही को परम पुरुषार्थ मानकर घरबार तृण सा छोड़ देता है। अपने अपने रंग में सब रँगे हैं, जिसने जो सिद्धांत कर लिया है वही उसके जी में गड़ रहा है और उसी के खंडन मंडन में

जन्म बिताता है, पर वह जो परम प्रेम अमृतमय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह स्वरूप ज्ञान विज्ञानादिक अंधकार नाश हो जाते हैं और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़, आपसे आप खुल जाता है--किसी को नहीं मिली; मिलै कहाँ से, सब उसके अधिकारी भी तो नहीं हैं। और भी, जो लोग धार्म्मिक कहाते हैं उनका चित्त स्वमत स्थापन और परमत निराकरण रूप वादविवाद से और जो विचारे विषयी हैं उनका अनेक प्रकार की इच्छा रूपी तृष्णा से। अवसर तो पाता ही नहीं कि इधर झुकै। (सोचकर) अहा इस मदिरा को शिवजी ने पान किया है, और कोई क्या पियैगा ? जिसके प्रभाव से अर्द्धांग में बैठी पार्वती भी उनको विकार नहीं कर सकती, धन्य हैं, धन्य हैं। और दूसरा ऐसा कौन है। (बिचार कर) नहीं नहीं व्रज की गोपियों ने उन्हें भी जीत लिया है। आहा इनका कैसा विलक्षण प्रेम है कि अकथनीय और अकरणीय हैं। क्योंकि जहाँ माहात्म्य ज्ञान होता है वहाँ प्रेम नहीं होता और जहाँ पूर्ण प्रीति होती है वहाँ माहात्म्य ज्ञान नहीं होता। ये धन्य हैं कि इनमें दोनों बातैं एक संग मिलतं हैं, नहीं तो मेरा सा निवृत्त मनुष्य भी रात दिन इन्हीं लोगों का यश क्यों गाता है ?

[नेपथ्य में वीणा बजती है]

[आकाश की ओर देखकर और वीणा का शब्द सुनकर]

आहा ! यह आकाश कैसा प्रकाशित हो रहा है और वीणा के कैसे मधुर स्वर कान में पड़ते हैं। ऐसा संभव होता है कि देवर्षि भगवान् नारद यहाँ आते हैं ? आहा ! वीणा कैसे मीठे सुर से बोलती है। (नेपथ्य पथ की ओर देखकर) अहा वही तो हैं, धन्य हैं, कैसी सुंदर शोभा है--

पिंग जटा को भार सीस पै सुन्दर सोहत।
गल तुलसी की माल बनी जोहत मन मोहत ॥
कटि मृगपति को चरम चरन मैं घुंघरू धारत।
नारायण गोबिन्द कृष्ण यह नाम उचारत ॥
लै बीना कर बादन करत तान सात सुर सों भरत।
जग अघ छिन मैं हरि कहि हरत जेहि सुनि नर भवजल तरत ॥१०॥

जुग तूंबन की बीन परम सोभित मन भाई।
लय अरु सुर की मनहुँ जुगल गठरी लटकाई॥
आरोहन अवरोहन के कै द्वै फल सोहैं।
कै कोमल अरु तीव्र सुर भरे जग मन मोहैं॥
कै श्रीराधा अरु कृष्ण के अगनित गुन गन के प्रगट।
यह अगम खजाने द्वै भरे नित खरचत तो हू अघट॥११॥

मनु तीरथमय कृष्णचरित की काँवरि लीने।
कै भूगोल खगोल दोउ कर अमलक कीने॥
जग बुधि तौलन हेत मनहुँ यह तुला बनाई।
भक्ति मुक्ति की जुगल पिटारी कै लटकाई॥
मनु गांवन सों श्रीराग के बीना हू फलती भई।
कै राग-सिन्धु के तरन हित यह दोऊ तूंवी लई॥१२॥

ब्रह्म जीव, निरगुन सगुन, द्वैताद्वैत बिचार।
नित्य अनित्य विवाद के द्वै तूंबा निरधार॥१३॥

जो इक तूंबा लै कढ़ै, सो बैरागी होय।
क्यों नहिं ये सब सों बढ़ैं, लै तूंबा कर दोय॥१४॥
तो अब इनसे मिल के आज मैं परमानंद लाभ करूँगा।

[नारदजी आते हैं]

शु०—(आगे बढ़कर और गले से मिलकर) आइए आइए, कहिए कुशल तो है ? किस देश को पवित्र करते हुए आते हैं ?

ना०—आपसे महापुरुष के दर्शन हों और फिर भी कुशल न हो यह बात तो सर्वथा असम्भव है; और आप से तो कुशल पूछना ही व्यर्थ है।

शु०—यह तो हुआ, अब कहिए आप आते कहाँ से हैं ?

ना०—इस समय तो मैं श्रीवृंदावन से आता हूँ।

शु०—अहा ! आप धन्य हैं जो उस पवित्र भूमि से आते हैं (पैर छूकर) धन्य है उस भूमि की रज, कहिए वहाँ क्या क्या देखा ?

ना०–वहाँ परम प्रेमानंदमयी श्री व्रजवल्लवी लोगों का दर्शन करके अपने को पवित्र किया और उनकी विरहावस्था देखता बरसों वहीं भूला पड़ा रहा, अहा ये श्री गोपीजन धन्य हैं, इनके गुणगण कौन कह सकता है।

गोपिन की सरि कोऊ नाहीं।
जिन तृन सम कुल लाज निगड़ सब तोरयौ हरि रस माहीं ॥
जिन निज बस कीने नंदनंदन विहरी दै गलबाँहीं।
सब संतन के सीस रहौ इन चरन छत्र की छाँहीं ॥१५॥

व्रज के लता पता मोहि कीजै।
गोपी पद पंकज पावन की रज जामैं सिर भींजै ॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप सुधा नित पीजै।
श्री राधे राधे मुख यह वर मुँह मांग्यौ हरि दीजै ॥१६॥

(प्रेम अवस्था में आते हैं और नेत्रों से आँसू बहते हैं)

शु०–(अपने आँसू पोंछकर) अहा धन्य है आप धन्य हैं, अभी जो मैं न सम्हालता तो बीना आपके हाथ से छूट के गिर पड़ती, क्यों न हो श्री महादेवजी के प्रीतिपात्र होकर आप ऐसे प्रेमी हों इसमें आश्चर्य नहीं।

ना०–(अपने को सम्हालकर) अहा ये क्षण कैसे आनंद से बीते हैं, यह आपसे महात्मा की संगत का फल है।

शु०–कहिए, उन सब गोपियों में प्रेम विशेष किसका है ?

ना०–विशेष किसका कहूँ और न्यून किसका कहूँ, एक से एक बढ़कर हैं। श्रीमती की कोई बात ही नहीं वह तो श्रीकृष्ण ही हैं लीलार्थ दो हो रही हैं तथापि सब गोपियों में श्रीचंद्रावलीजी के प्रेम की चरचा आज कल व्रज के डगर-डगर में फैली हुई है। अहा ! कैसा विलक्षण प्रेम है, यद्यपि माता पिता भाई बन्धु सब निषेध करते हैं और उधर श्रीमतीजी का भी भय है तथापि श्रीकृष्ण से जल में दूध की भाँति मिल रही हैं लोक लाज गुरुजन

कोई बाधा नहीं कर सकते, किसी न किसी उपाय से श्रीकृष्ण से मिल ही रहती हैं ।

शु०--धन्य हैं धन्य हैं, कुल को वरन जगत को अपने निर्मल प्रेम से पवित्र करनेवाली हैं ।

(नेपथ्य में वेणु का शब्द होता है)

अहा यह वंशी का शब्द तो और भी व्रजलीला की सुधि दिलाता है चलिए चलिए अब तो व्रज का वियोग सहा नहीं जाता; शीघ्र ही चल के उसका प्रेम देखें; उस लीला के विना देखे आँखें व्याकुल हो रही हैं ।

(दोनों जाते हैं)

[इति प्रेममुख नामक विष्कम्भक]

•

वर्षा वियोग

(समय तीसरा पहर, गहिरे बादल छाये हुए)

(स्थान--तालाब के पास एक बगीचा)

(झूला पड़ा है, कुछ सखी झूलती, कुछ इधर उधर फिरती हैं)

[चंद्रावली, माधवी, काममंजरी, बिलासिनी, इत्यादि एक स्थान पर बैठी हैं, चंद्रकांता, वल्लभा, श्यामला, भामा, झूले पर हैं, कामिनी और माधुरी हाथ में हाथ दिये घूमती हैं]

का०--सखी०, देख बरसात भी अब की किस धूम धाम से आई है मानो कामदेव ने अबलाओं को निर्बल जानकर इनके जीतने को अपनी सेना भिजवाई है ।

धूम से चारों ओर से घूम घूमकर बादल परे के परे जमाये बगपंगति का निशान उडाये लपलपाती नंगी तलवार सी बिजली चमकाते गरज गरजकर डराते बान के समान पानी बरखा रहे हैं और इन दुष्टों का जी बढ़ाने को मोर करखासा कुछ अलग पुकार पुकार गा रहे हैं। कुल की मर्य्याद ही पर इन निगोड़ों की चढ़ाई है। मनोरथों से कलेजा उमगा आता है और काम की उमंग जो अंग अंग में भरी हैं उनके निकले बिना जी तिलमिलाता है। ऐसे बादलों को देखकर कौन लाज की चद्दर रख सकती है और कैसे पतिव्रत पाल सकती है!

माधु०—विशेष कर वह जो आप कामिनी हो (हँसती है)।

का०—चल तुझे हँसने ही की पड़ी है। देख भूमि चारो ओर हरी हरी हो रही है। नदी नाले बावली तालाब सब भर गये। पक्षी लोग पर समेटे पत्तों की आड़ में चुपचाप सकपके से होकर बैठे हैं। बीरबहूटी और जुगुनूं पारी पारी रात और दिन को इधर उधर ब॒त दिखाई पड़ती हैं। नदियों के करारे धमाधम टूटकर गिरते हैं। सर्प निकल निकल अशरण से इधर उधर भागे फिरते हैं। मार्ग बंद हो रहे हैं। परदेसी जो जिस नगर में हैं वहीं पड़े पड़े पछता रहे हैं आगे बढ़ नहीं सकते। वियोगियों को तो मानो छोटा प्रलयकाल ही आया है।

माधु०—छोटा क्यौं बड़ा प्रलयकाल आया है। पानी चारों ओर से उमड़ ही रहा है। लाज के बड़े बड़े जहाज गारद हो चुके, भया, फिर वियोगियों के हिसाब तो संसार डूबा ही है, तो प्रलय ही ठहरा।

का०—पर तुझको तो बटेकृष्ण का अवलम्ब है न, फिर तुझे क्या, भांडीर वट के पास उस दिन खड़ी बात कर ही रही थी, गए हम—

माधु०—और चंद्रावली ?

का०—हाँ, चंद्रावली बिचारी तो आप ही गई बीती है उसमें भी अब तो पहरे में हैं, नजर बंद रहती है, झलक भी नहीं देखने पाती, अब क्या——

माधु०—जाने दे नित्य का झंखना। देख, फिर पुरवैया झकोरने लगी और वृक्षों से लपटी लताएँ फिर से लरने लगीं। साड़ियों के आँचल और दामन

फिर उड़ने लगे और मोर लोगों ने एक साथ फिर शोर किया। देख यह घटा अभी गरज गई थी पर फिर गरजने लगी।

का०–सखी वसंत का ठंढा पवन और सरद की चाँदनी से राम राम करके वियोगियों के प्राण बच भी सकते हैं, पर इन काली काली घटा और पुरवैया के झोंके तथा पानी के एकतार झमाके से तो कोई भी न बचेगा।

माधु०–तिसमें तू तो कामिनी ठहरी, तू बचना क्या जानै।

का०–चल ठठोलिन। तेरी आँखों में अभी तक उस दिन की खुमारी भरी है इसी से किसी को कुछ नहीं समझती। तेरे सिर बीते तो मालूम पड़े।

माधु०–बीती है मेरे सिर। मैं ऐसी कच्ची नहीं कि थोड़े में बहुत उबल पड़ूँ।

का०–चल तू हई है क्या कि न उबल पड़ैगी। स्त्री की बिसात ही कितनी। बड़े बड़े योगियों के ध्यान इस बरसात में छूट जाते हैं, कोई योगी होने ही पर मन ही मन पछताते हैं, कोई जटा पटककर हाय हाय चिल्लाते हैं और बहुतेरे तो तूमड़ी तोड़ तोड़कर योगी से भोगी हो ही जाते हैं।

माधु०–तो तू भी किसी सिद्ध से कान फुँकवाकर तुमड़ी तोड़वा ले।

का०–चल ! तू क्या जानै इस पीर को। सखी यही भूमि और यही कदम कुछ दूसरे ही हो रहे हैं, और यह दुष्ट बादल मन ही दूसरा किये देते हैं। तुझे प्रेम हो तब सूझै। इस आनंद की धुनि में संसार ही दूसरा, एक विचित्र शोभावाला और सहज काम गाने वाला मालूम पड़ता है।

माधु०–कामिनी पर काम का दावा है इसी से हेरफेर उसी को बहुत छेड़ा करता है।

(नेपथ्य में बारंबार मोर कूकते हैं)

का०–हाय हाय इस कठिन कुलाहल से बचने का उपाय एक विषपान ही है। इन दईमारों का कूकना और पुरवैया का झकोरकर चलना यह दो बात बड़ी कठिन है। धन्य हैं वे जो ऐसे समय में रंग रंग के कपड़े पहिने ऊँची ऊँची अटारियों पर चढ़ी पीतम के संग घटा और हरियाली देखती हैं वा बगीचों, पहाड़ों और मैदानों में गलबाहीं डाले फिरती हैं। दोनों परस्पर

पानी बचाते हैं और रंगीन कपड़े निचोड़कर चौगुना रंग बढ़ाते हैं। झूलते हैं, झुलाते हैं, हँसते हैं, हँसाते हैं, भीगते हैं, भिगाते हैं, गाते हैं, गवाते हैं, और गले लगते हैं, लगाते हैं।

माधु०—और तेरो न कोई पानी बचानेवाला न तुझे कोई निचोड़नेवाला, फिर चौगुने की कौन कहे ड्योढ़ा सवाया तो तेरा रंग बढ़े ही गा नहीं ?

का०—चल लुच्चिन ! जाके पायं न भई बिवाई सो क्या जानै पीर पराई।

(बात करती करती पेड़ की आड़ में चली जाती है)

माधवी०—(चंद्रावली से) सखी, श्यामला का दर्शन कर, देख कैसी सुहावनी मालूम पड़ती है। मुखचंद्र पर चूनरी चुई पड़ती है। लटैं सगबगी होकर गले में लपट रही हैं। कपड़े अंग में लपट गये हैं। भींगने से मुख का पान और काजल सबकी एक विचित्र शोभा हो गई है।

चं०—क्यों न हो। हमारे प्यारे की प्यारी है। मैं पास होती तो दोनों हाथों से इसकी बलैया लेती और छाती से लगाती।

का०—सखी, सचमुच आज तो इस कदंब के नीचे रंग बरस रहा है। जैसी समा बंधी है वैसी ही झूलने वाली हैं। झूलने में रंग रंग की साड़ी की अर्धं चंद्राकार रेखा इंद्रधनुष की छबि दिखाती हैं। कोई सुख से बैठी झूले की ठंढी ठंढी हवा खा रही है, कोई गाँती बाँधे लाँग कसे पेंग मारती है, कोई गाती है, कोई डरकर दूसरी के गले में लपट जाती है, कोई उतरने को अनेक सौगंद देती है पर दूसरी उसको चिढ़ाने को झूला और भी झोंके से झुला देती है।

माध०—हिंडोरा ही नहीं झूलता। हृदय में प्रीतम को झुलाने के मनोरथ और नैनों में पिया की मूर्ति भी झूल रही है। सखी आज साँवला ही की मेंहदी और चूनरी पर तो रंग है। देख बिजुली की चमक में उसकी मुखछबि कैसी सुंदर चमक उठती है और वैसे पवन भी बार बार घूंघट उलट देता है। देख—

हूलति हिये मैं प्रान प्यारे के बिरह सूल
फूलति उमंग भरी झूलति हिंडोरे पै।
गावति रिझावति हँसावति सबन हरि-
चंद चाव चौगुनों बढ़ाइ घन घोरे पै।।
वारि वारि डारौं प्रान हंसनि मुरनि बत-
रान मुँह पान कजरारे दृग डोरे पै।
ऊनरी घटामैं देखि दूनरी लगी है आहा
कैसी आजु चूनरी फबी है मुखगोरे पै।।

चं०–सखियो, देखो कैसो अंधेर और गजब है कि या रुत मैं सब अपनों मनोरथ पूरो करैं और मेरी यह दुरगति होय! भलो काहुवै तो दया आवती। (आँखों में आँसू भर लेती है)

माध०–सखी तू क्यों उदास होय है। हम सब कहा करैं, हम तो आज्ञाकारिणी दासी ठहरीं, हमारो का अखत्यार हैं, तऊ हममैं सों तो कोऊ कछू तोहि नायं कहै।

का० मं०–भलो सखी हम याहि कहा कहैंगी याहू तो हमारी छोटी स्वामिनी ठहरी।

विला०–हाँ सखी हमारी तो दोऊ स्वामिनी हैं। सखी बात यह हैं कै खराबी तो हम लोगन की हैं, ये दोऊ फेर एक की एक होंयगी। लाठी मारवे सों पानी थोरों हूँ जुदा हो जायगो, पर अभी जो सुन पावैं कि ढिमकी सखी ने चंद्रावलियैं अकेलि छोड़ि दीनी तो फेर देखौ तमासा।

माध०–हम्वै बीर। और केर कामहू तौ हमीं सब बिगारैं। अब देखि कौन नैं स्वामिनी सों चुगली खाई। हमारेई तुमारे में सों वहू है। सखी चंद्रावलियै जो दुःख देयगी वह आप दुःख पावैगी।

चं०–(आप ही आप) हाय! प्यारे हमारी यह दशा होती है और तुम तनिक नहीं ध्यान देते प्यारे फिर यह शरीर कहाँ और हम तुम कहाँ? प्यारे यह संयोग हमको तो अब की ही बना है फिर यह बातें दुर्लभ हो जायगीं।

हाय नाथ ! मैं अपने इन मनोरथों को किस को सुनाऊँ और अपनी उमंगें कैसे निकालूं । प्यारे रात छोटी है और स्वांग बहुत हैं । जीना थोड़ा और उत्साह बड़ा । हाय ! मुझ सी मोह में डूबी को कहीं ठिकाना नहीं । रात दिन रोते ही बीतते हैं । कोई बात पूछनेवाला नहीं क्योंकि संसार में जी कोई नहीं देखता सब ऊपर ही की बात देखते हैं । हाय ! मैं तो अपने पराये सब से बुरी बनकर बेकाम हो गई । सब को छोड़ कर तुम्हारा आसरा पकड़ा था सो तुमने यह गति की । हाय ! मैं किसकी होके रहूँ, मैं किसका मुँह देखकर जिऊँ । प्यारे मेरे पीछे कोई ऐसा चाहनेवाला न मिलैगा । प्यारे फिर दीया लेकर मुझको खोजोगे । हा तुमने विश्वासघात किया । प्यारे तुम्हारे निर्दयीपन की भी कहानी चलैगी । हमारा तो कपोत-व्रत है । हाय स्नेह लगाकर दगा देने पर भी सुजान कहलाते हो । बकरा जान से गया पर खानेवाले को स्वाद न मिला । हाय ! यह न समझा था कि यह परिणाम करोगे । वाह खूब निबाह किया । बधिक भी बध कर सुधि लेता हैं, पर तुमने न सुधि ली । हाय एक बेर तो आकर अंक में लगा जाओ । प्यारे जीते जी आदमी का गुन नहीं मालूम होता । हाय फिर तुम्हारे मिलने को कौन तरसेगा और कौन रोवेगा । हाय संसार छोड़ा भी नहीं जाता सब दुःख सहती हूँ पर इसी में फँसी पड़ी हूँ । हाय नाथ ! चारो ओर से जकड़कर ऐसी ऐसी बेकाम क्यौं कर डाली है ? प्यारे योंही रोते दिन बीतैंगे ? नाथ यह हवस मन की मन ही में रह जायगी ? प्यारे प्रगट होकर संसार का मुँह क्यौं नहीं बंद करते और क्यौं शंकाद्वार खुला रखते हौ ? प्यारे सब दीनदयालुता कहाँ गई ? प्यारे जल्दी इस संसार से छुड़ाओ । अब नहीं सही जाती । प्यारे जैसी हैं, तुम्हारी हैं । प्यारे अपने कनौड़े को जगत की कनौड़ी मत बनाओ । नाथ जहाँ इतने गुन सीखे वहाँ प्रीति निबाहना क्यौं न सीखा ? हाय ! मंझधार में डुबाकर ऊपर से उतराई माँगते हौ ? प्यारे सो भी दे चुकीं अब तो पार लगाओ । प्यारे सब की हद होती है । हाय हम तड़पैं और तुम तमाशा देखो । जन कुटुंब से छुड़ाकर यों छितर बितर करके बेकाम देना यह कौन बात हैं । हाय सब की आँखों में हलकी हो गई । जहाँ जाओ वहाँ दूर दूर, उस पर यह

गति। हाय "भामिनी तें भौंड़ी करी, मानिनी तें मौड़ी करी कौड़ो करी हीरा तें कनौड़ी करी कुलतें", तुम पर बड़ा क्रोध आता है और कुछ कहने को जी चाहता है। बस अब मैं गाली दूँगी। और क्या कहूँ, बस आप आप ही हो; देखो गाली में भी तुम्हें मैं मर्म्म वाक्य कहूँगी--झूठे, निर्द्दय, निर्घृण, "निर्द्दय हृदय कपाट" बखेड़िये और निर्लज्य ये सब तुम्हें सच्ची गालियाँ हैं; भला जो कुछ करना ही नहीं था तो इतना क्यौं झूठे बके ? किसने बहकाया था ? कूद कूदकर प्रतिज्ञा करने बिना क्या डूबी जाती थी ? झूठे ! झूठे !! झूठे !!! झूठे ही नहीं वरंच विश्वासघातक; क्यौं इतनी छाती ठोंक और हाथ उठा उठाकर लोगों को विश्वास दिया ? आप ही सब मरते चाहे जहन्नुम में पड़ते, और उस पर तुर्रा यह है कि किसी को चाहे कितना भी दुःखी देखें आपको कुछ घृणा तो आती ही नहीं, हाय हाय, कैसे कैसे दुखी लोग हैं--और मजा तो यह है कि सब धान बाइस पसेरी। चाहे आपके वास्ते दुःखी हो, चाहे अपने संसार के दुःख से, आप को दोनों उल्लू फँसे हैं। इसी से तो "निर्द्दय हृदय कपाट" यह नाम है। भला क्या काम था कि इतना पचड़ा किया ? किसने इस उपद्रव और जाल करने को कहा था ? कुछ न होता, तुम्हीं तुम रहते, बस चैन था, केवल आनंद था, फिर क्यों यह विषमय संसार किया ? बखेड़िये ! और इतने बड़े कारखाने पर बेहयाई परलेसिरे की। नाम बिकै, लोग झूठा कहैं, अपने मारे फिरैं, आप भी अपने मुँह झूठे बनैं, पर वाहरे शुद्ध बेहयाई और पूरी निर्लज्जता। बेशरमी हो तो इतनी तो हो। क्या कहना है, लाज को जूतों मार के पीट पीट के निकाल दिया है। जिस मुहल्ले में आप रहते हैं उस मुहल्ले में लाज की हवा भी नहीं जाती। जब ऐसे हो तब ऐसे हो। हाय ! एक बेर भी मुँह दिखा दिया होता तो मतवाले मतवाले बने क्यौं लड़ लड़कर सिर फोड़ते। अच्छे खासे अनूठे निर्लज्ज हो, काहे को ऐसे बेशरम मिलैंगे, हुकुमी बेहया हौ, कितनी गाली दूँ, बड़े भारी पूरे हो, शरमाओगे थोड़े ही कि माथा खाली करना सुफल हो। जाने दो-हम भी तो वैसी ही निर्लज्ज और झूठीं हैं। क्यौं न हों। जस दुलह तस बनी बराता। पर इसमें भी मूल उपद्रव तुम्हारा ही है, पर यह जान रखना कि इतना और कोई न कहैगा क्योंकि सिफारशी

नेतिनेति कहैंगे, एच्ची थोड़े ही कहैंगे। पर यह तो कहो कि यह दुखमय पचड़ा ऐसा ही फैला रहैगा कि कुछ तै भी होगा ? वा न तै होय। हमको क्या ? पर हमारा तो पचड़ा छुड़ाओ। हाय मैं किससे कहती हूँ। कोई सुननेवाला है। जंगल में मोर नाचा किसने देखा। नहीं नहीं वह सब देखता है, वा देखता होता तो अब तक मेरी खबर न लेता ? पत्थर होता तो वह भी पसीजता। नहीं नहीं मैंने प्यारे को इतना दोष व्यर्थ दिया। प्यारे तुम्हारा दोष कुछ नहीं। यह सब मेरे कर्म्म के दोष है। नाथ मैं तो तुम्हारी नित्य की अपराधिनी हूँ। प्यारे छमा करो। मेरे अपराधों की ओर न देखो, अपनी ओर देखो (रोती है)

मा०—हाय हाय ! सखियो, यह तो रोय रही है।

का०मं०—सखी प्यारी रोवै मती। सखी तोहि मेरे सिर की सौंह जो रोवै।

मा०—सखी मैं तेरे हाथ जोड़ूं मत रोवै। सखी हम सबन को जीव मरचो आवै है।

बि०—सखी जो तू कहैगी हम सब करैंगी। हम भले ही प्रियाजी की रिस सहैंगी पर तो सूं हम सब काहू बात सों बाहर नहीं।

म०—हाय हाय ! यह तो मानै है नहीं (आँसू पोंछकर) मेरी प्यारी मैं हाथ जोड़ूं हा हा खाऊँ मानि जा।

का०मं०—सखी यासों मति कछू कहौ। आओ हम सब मिलि कै विचार करैं जासों याको काम हो।

बि०—सखी हमारे तो प्राणताईं यापैं निछावर हैं पर जो कछू उपाय सूझै।

चं०—(रोकर) सखी एक उपाय मुझे सूझा है जो तुम मानो।

मा०—सखी क्यौं न मानैंगी तू कहै क्यौं नहीं।

चं०—सखी मुझे यहाँ अकेली छोड़ जाओ।

मा०—तौ तू अकेली यहाँ का करेगी ?

चं०—जो मेरी इच्छा होगी।

मा०—भलो तेरी इच्छा का होयगी हमहूं सुनैं ?

चं०–सखी वह उपाय कहा न ीं जाता।

मा०–तौ का अपनो प्रान देगी। सखी हम ऐसी भोरी नहीं हैं कै तोहि अकेली छोड़ जायंगी।

बि०–सखी तू व्यर्थ प्राण देन को मनोरथ करै है तेरे प्राण तोहि न छोड़ेंगे। जौ प्राण तोहि छोड़ जायंगे तो इनको ऐसो सुंदर शरीर फिर कहाँ मिलेगो।

का०मं०–सखी ऐसी वात हम सूं मति कहै, और जो कहै सो सो हम करिबे को तयार हैं, और या बात को ध्यान तू सपने हू मैं मति करि। जब ताईं हमारे प्राण हैं तब ताईं तोहि न मरन देंयगी पीछे भलेईं जो होय सो होय।

चं०–(रोकर) हाय! मरने भी नहीं पाती। यह अन्याय।

मा०–सखी अन्याय नहीं यही न्याय है।

का०मं०–जान दै माधवी वासों मति कछू पूछै। आओ हम तुम मिल कै सल्लाह करैं अब का करनो चाहिए।

बि०–हाँ माधवी तू ही चतुर है तू ही उपाय सोच।

मा०–सखी मेरे जी में तौ एक बात आवै है। हम तीनि हैं सो तीनि काम बाँटि लें। प्यारी जू के मनाइबे को मेरो जिम्मा। यही काम सब में कठिन है। और तुम दोउन मैं सो एक याके घरकेन सों याकी सफाई करावै और एक लाल जू सों मिलिवे की कहै।

का०मं०–लालजी सों मैं कहूँगी। मैं विन्नै बहुती लजाऊंगी और जैसे होय गो वैसे यासों मिलाऊँगी।

मा०–सखी वेऊ का करैं। प्रियाजी के डर सो कछू नहीं कर सकैं।

बि०–सो प्रियाजी को जिम्मा तेरो हई है।

मा०–हाँ हाँ, प्रियाजी को जिम्मा मेरो।

बि०–तौ याके घर को मेरो।

मा०–भयो फेर का। सखी काहू बात को सोच मति करै। उठि।

चं०—सखियो ! व्यर्थ क्यौं यत्न करती हौ। मेरे भाग्य ऐसे नहीं हैं कि कोई काम सिद्ध हो।

मा०—सखी हमारे भाग्य तो सीधे हैं। हम अपने भाग्य बल सों सब काम करैंगी।

का०मं०—सखी तू व्यर्थ क्यों उदास भई जाय है। जब तक साँसा तब तक आसा।

मा०—तौ सखी बस अब यह सलाह पक्की भई। जब ताईं काम सिद्ध न होय तब ताईं काहुवै खबर न परै।

बि०—नहीं खबर कैसे परैगी ?

का०मं०—(चंद्रावली का हाथ पकड़कर) लै सखी अब उठि। चलि हिंडोरें झूलि।

मा०—हाँ सखी अब तौ अनमनोपन छोड़ि।

चं०—सखी छूटा ही सा है पर मैं हिंडोरे न झूलूंगी। मेरे तो नेत्र आप ही हिंडोरे झूला करते हैं।

पल पटुली पैं डोर प्रेम की लगाय चारु
आसा ही के खंभ दोय गाढ़ कैं धरत हैं।
झुमका ललित काम पूरन उछाह भरयो
लोक बदनामी झूमि झालर झरत हैं॥
हरीचंद आँसू दृग नीर बरसाइ प्यारे
पिया गुन गान सो मलार उचरत हैं।
मिलन मनोरथ के झोंटन बढ़ाइ सदा
विरह हिंडोरे नैन झूल्योई करत हैं॥

और सखी मेरा जी हिंडोरे पर और उदास होगा।

मा०—तौ सखी तेरी जो प्रसन्नता होय ! हम तौ तेरे सुख की गाँहक हैं।

चं०—हा ! इन बादलों को देखकर तो और भी जी दुखी होता है।

देखि घनस्याम घनस्याम की सुरतिकरि
जियमैं बिरहघटा घहरि घहरि उठै।
त्यौंहीं इंद्रधनु बगमाल देखि बनमाल
मोतीलर पाँती जब लहरि लहरि उठै।

हरीचंद मोर पिक धुनि सुनि वंसीनाद
बाँकी छवि बार बार छहरि छहरि उठै ।
देखि देखि दामिनी की दुगुन दमक पीत
पट छोरे मेरे हिय फहरि फहरि उठै ॥

हाय ! जो बरसात संसार को सुखद है वह मुझे इतनी दुखदाई हो रही है।
मा०—तौ न दुखदायिनी होयगी । चल उठि घर चलि ।
का०मं०—हाँ चलि ।

(सब जाती हैं)
(जवनिका गिरती है)
[इति वर्षा-वियोग-बिपत्ति नाम तृतीय अंक]

सतीप्रताप

(एक गीतिरूपक)

पहला दृश्य

(हिमालय का अधोभाग)

तृण लता वेष्टित एक टीले पर बैठी हुई तीन अप्सरा गाती हैं।

१. अप्सरा——(राग झिझौंटी)

१. जय जय श्री रुकमिन महरानी।
२. निज पति त्रिभुअन पति हरि पद में छाया सी लपटानी।
३. सती सिरोमणि रूपरासि करुनामय सब गुनखानी।
४. आदिशक्ति जग कारिनि पालिनि निज भक्तन सुखदानी॥

२. अप्सरा——(राग जंगला या पीलू)

जग में पतिव्रत सम नहिं आन।
नारि हेतु कोउ धर्म न दूजो जग में यासु समान॥
अनुसूया सीता सावित्री इन के चरित प्रमान।
पति देवता तीय जग धन धन गावत वेद पुरान॥
धन्य देस कुल जहँ निबसत हैं नारी सती सुजान।
धन्य समय जब जन्म लेत ये धन्य व्याह असथान॥
सब समर्थं पतिव्रता नारी इन सम और न आन।
याही ते स्वर्गहु में इन को करत सबै गुन गान॥

३. अप्सरा——(रागिनी बहार)

नवल बन फूलीं द्रुम बेली।
लहलह लहकहिं महमह महकहिं मधुर सुगंधहिं रेली॥

प्रकृति नवोढ़ा सजे खरी मनु भूषन बसन बनाई।
आंचर उड़त वात बस फहरत प्रेम धुजा लहराई॥
गूँजहिं भँवर विहंगम डोलहिं बोलहिं प्रकृति वधाई।
पुतली सी जित तित तितली गन फिरहिं सुगंध लुभाई॥
लहरहिं जल लहकहिं सरोज मन हिलहिं पात तरु डारी।
लखि रितुपति आगम सगरे जग मनहुँ कुलाहल भारी॥

(पटाक्षेप)

दूसरा दृश्य

तपोवन——लतामंडप में सत्यवान बैठा हुआ है।)

(रंग गीति–पीलू–धमार)

क्यों फकीर बन आया वे मेरे वारे जोगी।
नई वैस कोमल अंगन पर काहे भभूत रमाया वे॥
किन वे मात पिता तेरे जोगी जिन तोहि नाहिं मनाया वे।
काचें जिय कहु काके कारन प्यारे जोग कमावा वे॥

(चैती गौरी तिताला)

बिदेसिया वे प्रीति की रीति न जानी।
प्रीति की रीति कठिन अति प्यारे कोई विरले पहिचानी॥

सत्यवान–यह कोमल स्वर कहां से कान में आया ? प्रतिध्वनि के साथ यह स्वर ऐसा गूंज रहा है कि मेरी सारी कदंबखंडी [illegible] हो गई। बीच

बीच में मोर कुहुक कुहुककर और भी गूंज दूनी कर देते हैं। (कुछ सोचकर) हाय ! मेरा मन इस समय भी स्थिर नहीं। हाय ! प्रासादों में स्फटिक की छत पर चलने में जिनके चरण को कष्ट होता था, आज वह कंटकमय पथ में नंगे पाओं फिर रहे हैं और दुग्धफेन सी सेज के वदले आज मृगचर्म पर सोते हैं। हाय, हमारे माता पिता बुढ़ापे से सामर्थ्यहीन तो थे ही, ऊपर से दैव ने उन्हें अंधा भी बनाया। हाय, अभागे सत्यवान से भी कभी माता पिता की सेवा न बन पड़ी। कभी उनके वात्सल्यपूर्ण प्रेमामृत वचन ने मेरे कान न शीतल किए। और न ऐसा होना है। जनमते ही तो तपस्या करनी पड़ी। धन्य विधाता ! दरिद्र को धनवान और धनवान को दरिद्र करना तो तुम्हें एक खेल है। किंतु दरिद्र बना के फिर क्यों कष्ट देते हो। दारिद्र हीं सही, पर मन को तो शांति दो। भला दो घड़ी भी वृद्ध माता पिता की सेवा करने पावैं। (चिंता)

(सावित्री को घेरे हुए गाते गाते मधुकरी, सुरबाला और लवंगी का आना और फूल बीनना)

सखीजन—(गौरी)

भौंरा रे बौरानो लखि बौर
लुबध्यौ उतहि फिरत मडरान्यौ जात कहूँ नहिं और—
भौंरारे बौरान्यो।

(चैती गौरी)

फूलन लगे राम वन नवल गुलववा।
फूलन लागे राम महुआ फले आम बौराने डारहिडार
भँवरवा झूलन लगे राम।

(गौरी)

पवन लगि डोलत बन की पतियाँ।
मानहु पथिकन निकट बुलावहिं कहन प्रेम की बतियाँ॥
अलक हिलत फहरत तन सारी होत है सीतल छतियाँ।
यह छबि लखि ऐसी जिय आवत इतहि बितैए रतियाँ॥

सुरबाला–सखी; कैसा सुंदर बन है।
लवंगी–और यह बारी भी कैसी मनोहर है।
मधुकरी–आहा ! तपोवन रिषि मुनि लोगों को कैसा सुखदायक होता है।
सावित्री–सखी, रिषि मुनि क्या, तपोवन सभी को सुख देता है।
सुरबाला–क्योंकि यहाँ सदा वसंत ऋतु रहती है न।
सावित्री–बसंत ही से नहीं, तपोवन ऐसा ही है।
मधुकरी–अहा ! यह कुंज कैसा सुंदर है। सखी देखो माधवीलता इस कुंज पर कैसी घनघोर छाई हुई है।
सावित्री–सहज वस्तु सभी मनोहर होती हैं। देखो, इस पर फूल कैसे सुंदर फूले हैं, जैसे किसी ने देवता की फूलमंडली बनाई हो।
सुरबाला–और उधर से हवा कैसी ठंढी आती है।
लवंगी–और हवा में सुगंध कैसी है।
मधुकरी–सखी ! एकटक उधर ही क्यों देख रही हो !
सुरबाला–सच तो सखी। वहाँ क्या है जो उधर ही ऐसी दृष्टि गड़ा रही हौ ?
लवंगी–तू क्या ानै। तपोवन में सैकड़ों वस्तु ऐसी होती हैं।
सावित्री–(राग सोरठ)

लखो सखि भूतल चंद खस्यो।
राहु केतु भय छोड़ि रोहिनिहि या बन आइ बस्यौ॥
कै सिव जय हित करत तपस्या मनसिज इत निबस्यौ।
कै कोऊ बनदेव कुंज में बनबिहार बिलस्यौ॥

मधुकरी–सच तो, तपसियों में ऐसा रूप !
सुरबाला–जाने दे। वनवासी तपस्वी में ऐसा रूप कहाँ ?
सावित्री–यह मत कहो। विधना की कारीगरी जैसो नगर में, वैसी ही वन में।

(सत्यवान की ओर सतृष्ण दृष्टिपात)

सुरबाला–देखती हौ ? एक मन, एक प्रान होकर कैसा सोच रही हैं ?
लवंगी–(परिहास से) आज जो यह तापसकुमार के बदले राजकुमार होते तो घर बैठे गंगा बही थी।

मधुकरी–सखी, इसका कुछ नेम नहीं है कि राजकुमारी का व्याह राजकुमार ही से हो।

सावित्री–विधाता ने जिस भाव में राजपुत्र को सिरजा है उसी भाव में मुनिपुत्र को। और फिर राजधन से तपोधन कुछ कम नहीं होता।

सत्यवान–(आप ही आप) यह क्या बनदेवी आई हैं।

मधुकरी–हम उनके पास जाकर प्रणाम तो कर आवें।

(मधुकरी का कुंज की ओर बढ़ना और सत्यवान का लतामंडप से निकलकर बाहर बैठना)

मधुकरी–(सत्यवान के पास जाकर) प्रनाम (हाथ जोड़कर सिर झुकाना)

सत्यवान–आयुष्मती भव। आपलोग कौन हैं ?

मधुकरी–हमलोग अपनी सखी मद्रदेश के जयंती नगर के राजा अश्वपति की कुमारी सावित्री के साथ फूल बीनने आई हैं।

सत्यवान–(स्वगत) राजकुमारी ! वामन को चंद्रस्पर्श।

मधुकरी–कृपानिधान ! आप सदा यहीं निवास करते हैं।

सत्यवान–जब तक दैव अनुकूल न हो यहाँ निवास है।

मधुकरी–इससे तो बोध होता है कि किसी राजभवन को सूना करके आप यहाँ आए हैं।

सत्यवान–सखी ! उन बातों को जाने दो।

मधुकरी–हमारे अनुरोध से कहना ही होगा। दयाल सज्जनगण अतिथि की याञ्चा व्यर्थ नहीं करते। विशेष कर के पहले ही पहल।

सत्यवान–हम शाल्व देश के राजा द्युमत्सेन के पुत्र हैं। हमारा नाम चित्राश्व वा सत्यवान है। इस मेध्यारण्य नामक बन में पिता की सेवा करते हैं।

मधुकरी–(आप ही आप) तभी ! गंगा समुद्र छोड़कर और जलाशय की ओर

नहीं झुकती। (प्रगट) तो आज्ञा हो तो अब प्रणाम करूँ।

सत्यवान–(कुछ उदास होकर) यह क्यों ? विना आतिथ्य स्वीकार किए हुए ?

मधुकरी–इसका तो मैं सखी से पूछ लूं तो उत्तर दूँ। (सावित्री के पास आकर) सखी ! कुमार तापस कहते हैं कि आतिथ्य स्वीकार करना होगा।

सावित्री–(सखियों का मुँह देखती है।)

लवंगी–(परिहास से) अवश्य अवश्य। इसमें क्या हानि है।

सावित्री–(कुछ लज्जा करके) सखी ! उनसे निवेदन कर दे कि हम लोग माता पिता की आज्ञा लेकर तब किसी दिन आतिथ्य स्वीकार करेंगे, आज विलंब भी हुआ है।

मधुकरी–(सत्यवान के पास जाकर) कुमारी कहती हैं कि किसी दिन माता पिता की आज्ञा लेकर हम आवेंगे तव आतिथ्य स्वीकार करेंगे। आप तो जानते ही हैं कि आर्यकुल की ललनागण किसी अवस्था में भी स्वतंत्र नहीं हैं। इससे आज क्षमा कीजिए।

सत्यवान–(कुछ उदास होकर) अच्छा। (सखियों के साथ सावित्री का प्रस्थान) (उधर ही देखता है) यह क्या ? चित्त में ऐसा विकार क्यों ? क्या स्वर्ण और रत्न में भी मलिनता ? क्या अग्नि में भी कीट की उत्पत्ति ? उँह ? फिर वही ध्यान ? यह क्या ? अब तो जी नहीं मानता। चलें आगे बढ़कर बदली में छिपते हुए चंद्रमा की शोभा देखकर जी को शांति दें। (जाता है)

(पटाक्षेप)

तीसरा दृश्य

जयंती नगर का गृहोद्यान

(जोगिन बनी हुई सावित्री ध्यान करती है)

(नेपथ्य में बैतालिक गान)

नैन लाल कुसुम पलास से रहे हैं फूलि
फूल माल गरें बन झालरि सी लाई है।
भँवर गुंजार हरि नाम को उचार तिमि
कोकिला सी कुहुकि वियोग राग गाई है॥
हरीचंद तजि पतझार घर बार सबै
बौरी बनि दौरी चारू पौन ऐसी धाई है।
तेरे बिछुरे तें प्रान कंत कै हिमंत अंत
तेरी प्रेम जोगिनी बसंत बनि आई है॥ १॥

पीरो तन पर्यौ फूली सरसों सरस सोई
मन मुरझान्यौ पतझार मनो लाई है।
सीरी स्वास त्रिविध समीरसी बहति सदा
अँखियाँ बरसि मधुझरि सी लगाई है॥
हरीचंद फूले मन मैंन के मसूसन सों
ताही सों रसाल बाल बदि कै बौराई है।
तेरे बिछुरे तें प्रान कंत के हिम्मत अंत
तेरी प्रेम जोगिनी बसंत बनि आई है॥ २॥

"बरुनी बघंबर मैं गूदरी पलक दोऊ,
कोए राते बसन भगौंहै भेख रखियाँ।
बूड़ी जलही मैं दिन जामिनीहूँ जागैं भौंह,
धूम सिर छायो बिरहानल बिलखियाँ॥

आँसू ज्यौं फटिक माल काजर की सेली पैन्ही,
भई हैं अकेली तजि चेलि संग सखियाँ।
दीजिये दरस देव कीजिये संजोगन ये,
जोगिन ह्वै बैठी हैं वियोगिन की अँखियाँ" ॥ ३ ॥

एकै ध्यान एकै ज्ञान एकै मन एकै प्रान,
दसों दिसि अबिचल एकै तान तानो है।
जग मैं बसत हूँ मनहुँ जग बाहिर सी,
हियौ तन दोऊ निसि दिवस तपानो है ॥
'हरिचंद' जोग की जुगति रिद्धि सिद्धि सब,
तजि तिनका सी एक नेह को मिनानो है।
बिना फल आस सीस सहनी सहस्र त्रास,
जोगिन सों कठिन बियोगिन को बानो है ॥

(सावित्री ध्यान से आँख खोलती है)

सावित्री—अहा ! एक पहर दिन आ गया। सखीगण अब तक नहीं आईं इसी से ध्यान भी निर्विघ्न हुआ। हमारी वासना सत्य है तो अंतर्गति जाननेवाली सतीकुल सरोजिनी भगवती भवानी हमारी भावना अवश्य पूर्ण करेंगी। मन बच कर्म से जो हमारी भक्ति पति के चरणारविंद में है तो वे हमको अवश्य ही मिलेंगे। अथवा न भी मिलें तो इस जन्म में तो दूसरा पति हो नहीं सकता। स्त्रीधर्म बड़ा कठिन है। जिसको एक बेर मन से पति कहकर वरण किया उसको छोड़कर स्त्री शरीर की अब इस जगत् में कौन गति है। पिता माता बड़े धार्मिक हैं। सखियों के मुख से यह संवाद सुनकर वह अवश्य उचित ही करेंगे। वा न करेंगे तो भी इस जन्म में अन्य पुरुष अब मेरे हेतु कोई है नहीं। (अपना वेष देखकर) अहा ! यह वेष मुझको कैसा प्रिय बोध होता है। जो वेष हमारे जीवितेश्वर धारण करें वह क्यों न प्रिय हो। इसके आगे बहुमूल्य हीरों के हार और चमत्कार दर्शक वस्त्र सब तुच्छ हैं। वही वस्तु प्यारी है जो प्यारे को प्यारी है। नहीं तो सर्वसंपत्ति

की मूल कारण स्वरूपा देवी पार्वती भगवान् भूतनाथ की परिचर्या इस वेष से क्यों करतीं ? सतीकुलतिलका देवी जनकनंदिनी को अयोध्या के बड़े बड़े स्वर्ग विनिंदक प्रासाद और शचीदुर्लभ गृह-सामग्री से भी वन की पर्णकुटी और पर्वतशिला अति प्रिय थीं, क्योंकि सुख तो केवल प्राणनाथ की चरण-परिचर्या में है। जब तक अपना स्वतंत्र सुख है तब तक प्रेम नहीं। पत्नी का सुख एकमात्र पति की सेवा है। जिस बात में प्रियतम की रुचि उसी में सहधर्मिणी की रुचि। अहा ! वह भी कोई धन्य दिन आवेगा जब हम भी अपने प्राणाराध्य देवता प्रियतम पति की चरणसेवा में नियुक्त होंगी। वृद्ध श्वसुर और सास के हेतु पाक आदि निर्माण करके उनका परितोष करेंगी। कुसुम, दूर्वा, तुलसी, समिधा इत्यादि बीनने को पति के साथ वन में घूमेंगी। परिश्रम से थकित प्राणनायक के स्वेद-सीकर अपने अंचल से पोंछ-कर मंद मंद वनपत्र के व्यजनवायु से उनका श्रीअंग शीतल और चरण-संवाहनादि से श्रमगत करेंगी। (

(गान करते हुए सखीगण का आगमन)

(ठुमरी)

सखीत्रय--

देखो मेरी नई जोगिनियाँ आई हो—जोगी पिय मन भाई हो।
खुले केस गोरे मुख सोहत जोहत दृग सुखदाई हो॥
नव छाती गाती कसि बाँधी कर जप माल सुहाई हो।
तन कंचन दुति बसन गेरुआ दूनी छबि उपजाई हो॥
देखो मेरी नई जोगिनियाँ आई हो॥

(सावित्री के पास जाकर)

(लावनी)

सखि ! बाले जोबन महा कठिन व्रत कीनो।
यह जोग भेख कोमल अंगन पर लीनो॥
अबहीं दिन तुमरे खेल कूद के प्यारी।
पितु मातु नाव सों भवन बसी सुकुमारी॥

ओढ़ौ पहिरौ लखि सुख पावै महतारी ।
बिलसौ गृह संपति सखी गईं बलिहारी ॥
तजि देहु स्वांग जो सबही बिधि सों हीनो ।
यह जोग भेष जो कोमल अंग पर लीनो ॥

मधु०–सखि ! यही जगत की चाल जिती हैं क्वारी ।
उनके सबही विधि मात पिता अधिकारी ॥
जेहि चाहैं ताकहँ दान करैं निज वारी ।
यामैं कछु कहनो तजनो लाज दुलारी ॥
विनती मानहु हठ माँहि वृथा चित दीनो ।
यह जोगभेष जो कोमल अँग पर लीनो ॥

सुर०–सखि ! औरहु राजकुमार बहुत जग माँहीं ।
विद्या-बुधि-गुन-बल-रूप-समूह लखाहीं ॥
चिरजीवी प्रेमी धनी अनेक सुनाहीं ।
का उन सम कोऊ और जगत में नाहीं ॥
जाके हित तुम तजि राजभेष सुख-भीनो ।
यह जोग-भेष निज कोमल अँग पर लीनो ॥

सावित्री–(ईषत क्रोध से)

बस-बस ! रसना रोको ऐसी मति भाखो ।
कछु धरमहु को भय अपने जिय मैं राखो ॥
कुलकामिनि ह्वै गनिका धरमहि अभिलाखो ।
तजि अमृतफल क्यों विषमय विषयहि चाखो ॥
सब समुझि बूझि क्यों निंदहु मूरख तीनों ।
यह जोग-भेष जो कोमल अँग पर लीनो ॥

लवंगी–सखी को कैसा जल्दी क्रोध आया है ?

सावित्री–अनुचित बात सुनकर किसको क्रोध न आवेगा ?

सुर०–सखी ! हम लोगों ने जो वचन दिया था वह पूरा किया ।

सावित्री–वचन कैसा ?

सुर०–सखी, तुम्हारे माता पिता ने हम लोगों से वचन लिया था कि जहाँ तक हो सकेगा हम लोग तुमको इस मनोरथ से निवृत्त करेंगे।

सावित्री–निवृत्त करोगी ? धर्मपथ से ? सत्य प्रेम से ? और इसी शरीर में ?

सुर०–सखी, शांत भाव धारण करो। हम लोग तुम्हारी सखी हैं, कोई अन्य नहीं हैं। जिसमें तुमको सुख मिले वही हम लोगों को करना है। यह सब जो कुछ कहासुना गया, केवल ऊपरी जी से।

सावित्री–तब कुछ चिंता नही। चलो, अब हम लोग माता के पास चलें। किंतु वहाँ मेरे सामने इन बातों को मत छेड़ना।

सखीगण–अच्छा, चलो।

(जवनिका गिरती है)

चौथा दृश्य

स्थान–तपोवन। द्युमत्सेन का आश्रम

(द्युमत्सेन, उनकी स्त्री और ऋषि बैठे हैं)

द्युमत्सेन–ऐसे ही अनेक प्रकार के कष्ट उठाए हैं, कहाँ तक वर्णन किया जाय।

पहला ऋषि–यह आपकी सज्जनता का फल है।

(छप्पय)

क्यौं उपज्यौ नरलोक ? ग्राम के निकट भयो क्यौं ?

सघन बाग सों सीतल छाया दान दयो क्यौं ?

मीठे फल क्यौं फल्यो ? फल्यौ तो नम्र भयो कित ?
नम्र भयो तो सहु सिर पै वहु विपति लोक कृत।
तोहि तोरि मरोरि उपारिहैं पाथर हनिहैं सवहि नित।
जे सज्जन ह्वै नै कै चलहिं तिनकी यह दुरगति उचित ॥

दूसरा ऋषि–ऐसा मत कहिए ! वरंच यों कहिए––

चातक को दुख दूर कियो पुनि दीनो सब जग जीवन भारी।
पूरे नदी नद ताल तलैया किये सब भाँति किसान सुखारी ॥
सूखेहू रूखन कीने हरे जग पूरयौ महामुद दै निज बारी।
हे घन आसिन लौं इतनो करि रीते भए हूँ बड़ाई तिहारी ॥

द्युमत्सेन––मोहि न धन को सोच भाग्य बस होत जात धन।
पुनि निरधन सो दोस न होत यहौ गुन गुनि मन ॥
मोकहँ इक दुख यहै जु प्रेमिन हू मोहिं त्याग्यौ।
विना द्रव्य के स्वानहु नहिं मोसों अनुराग्यौ ॥
सब मित्रन छोड़ी मित्रता बंधुन हू नातो तज्यौ।
जो दास रह्यौ मम गेह को मिलनहुँ मैं अब सो लज्यौ ॥

पहला ऋषि–तो इसमें आपकी क्या हानि है ? ऐसे लोगों से न मिलना ही अच्छा है।

द्युमत्सेन–नहीं, उनके न मिलने का मुझको अणुमात्र सोच नहीं है। मुझको तो ऐसे तुच्छमना लोगों के ऊपर उलटी दया उत्पन्न होती है। मुझको अपनी निर्धनता केवल उस समय अति गढ़ाती है जब किसी सत्पुरुष कुलीन को द्रव्य के अभाव से दुःखी देखता हूँ। उस समय मुझको निस्संदेह यह हाय होती है कि आज द्रव्य होता तो मैं उसकी सहायता करता।

दू० ऋषि–आपके मन में इसका खेद होता हैं तो मानसिक पुण्य आपको हो चुका। और आपकी मनोवृत्ति ऐसी है तो वह अवश्य एक न एक दिन फलवती होगी।

प० ऋषि–सज्जनगण स्वयं दुर्दशाग्रस्त रहते हैं, तब भी उनसे जगत् में नाना प्रकार के कल्याण ही होते हैं।

द्युमत्सेन–अब मुझसे किसी का क्या कल्याण होगा ! बुढ़ापे से शरीर में पौरुष हई नहीं। एक आँख थी सो भी गई। तीर्थं भ्रमण और देवदर्शन से भी रहित हुए।

प० ऋषि–आपके नेत्रों के इतने निर्बल हो जाने का क्या कारण है ? अभी कुछ आपकी अवस्था अति वृद्ध नहीं हुई है।

द्युमत्सेन–वही कारण जो हमने कहा था। (उदास होकर) पुत्रशोक से बढ़कर जगत् में कोई शोक नहीं है। गणक लोगों ने यह कहकर कि तुम्हारा पुत्र अल्पायु है; मेरा चित्त और भी तोड़ रखा है। इसी से न मैं ऐसा घर, ऐसी लक्ष्मी सी बहू पाकर भी अभी विवाह संबंध नहीं स्थिर करता।

दू० ऋषि०–अहा ! तभी महाराज अश्वपति और उनकी रानी इस संबंध से इतने उदास हैं। केवल कन्या के अनुरोध से संबंध करने के लिये कहते हैं।

(हरिनाम गान करते हुए नारदजी का आगमन)

नारद–(नाचते और वीणा बजाते हुए)

(चाल नामकीर्तन महाराष्ट्रीय कटाव)

जय केशव करुणाकंदा। जय नारायण गोविंदा।
जय गोपीपति राधानायक। कृष्णकमल लोचन सुखदायक॥
माधव सुरपति रावण-हंता। सीतापति जदुपति श्रीकंता॥
बुद्ध नृसिंह परशुधर बावन। मच्छ-कच्छ-बपुधर गज-पावन॥
कल्कि वराह मुकुन्दा। जय केशव करुणा कंदा॥
जय जय विष्णु भक्त भयहारी। वृंदावन बैकुंठ - बिहारी॥
जसुदा-सुअन देवकीनंदन। जगवंदन प्रभु कंसनिकंदन॥
शंख - चक्र - कौमोदकि - धारी। वंशीधर बकबदन बिदारी॥
जय वृंदावन चंदा। जय केशव करुणा-कंदा॥
जय नरायण गोविंदा।

(सब लोग प्रणाम करके बैठते हैं)

द्युमत्सेन–हमारे धन्य भाग कि इस दीनावस्था में आपके दर्शन हुए।

नारद–राजन् ! तुम्हारे पास सत्यधन, तपोधन, धैर्यधन अनेक धन हैं, तुम क्यों दीन हो ? और आज हम तुमको एक अति शुभ संदेश देने को आए हैं। तुम्हारे पुत्र का विवाहसंबंध हम अभी स्थिर किए आते हैं। सावित्री के पिता को भी समझा आए हैं कि उनकी कन्या सावित्री अपने उज्ज्वल पातिव्रत धर्म के प्रभाव से सब आपत्तियों को उल्लंघन करके सुखपूर्वक कालयापन करेगी और अपने पवित्र चरित्र से दोनों कुल का नाम बढ़ावेगी। तुमसे भी यही कहने आए हैं कि सब संदेह छोड़कर विवाह का संबंध पक्का करो।

द्युमत्सेन–मुझको आपकी आज्ञा कभी उल्लंघनीय नहीं है। किंतु––

नारद–किंतु फिंतु कुछ नहीं। विशेष हम इस समय नहीं कह सकते। इतना मात्र निश्चय जानो कि अंत में सब कल्याण है।

द्युमत्सेन–जो आज्ञा।

नारद–अब हम जाते हैं।

(गान चाल भैरव, ताल इकताला वा बाउल भजन की चाल पर ताल आड़ा)

बोलो कृष्ण कृष्ण राम राम परम मधुर नाम।
गोविंद गोविंद केशव केशव गोपाल गोपाल माधव माधव।

हरि हरि हरि वंशीधर श्याम।
नारायण वासुदेव नंदनंदन जगवंदन।
वृंदावन चारु चंद्र गरे गुंजदाम।
'हरीचंद' जन रंजन सरन सुखद मधुर मूर्ति।
राधापति पूर्ण करन सतत भक्त काम॥

(नृत्य और गीत)

(जवनिका गिरती है)